मार्कण्डेय पुराण

खण्ड १

मार्कण्डेय पुराण

(प्रथम खण्ड)

(सरल भाषानुवाद सहित जनोपयोगी संस्करण)

❀

सम्पादक :

वेदमूर्ति, तपोनिष्ठ

पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

चारों वेद, १०८ उपनिषद्, षट् दर्शन, योग वासिष्ठ,
२० स्मृतियाँ व १८ पुराणों के
प्रसिद्ध भाष्यकार।

प्रकाशक :

संस्कृति संस्थान

ख्वाजाकुतुब, (वेदनगर), बरेली—२४३००३ (उ०प्र०)

फोन नं० ७४२४२

प्रकाशक :

डॉ० चमनलाल गौतम

संस्कृति संस्थान

ख्वाजा कुतुब, (वेद नगर)

बरेली—२४३००३ (उ० प्र०)

फोन : ७४२४२

सम्पादक :

पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

※

※

संशोधित संस्करण :

सन् १९८९

※

मुद्रक :

शैलेन्द्र वी० माहेश्वरी

नव ज्योति प्रेस

सेठ भीकचन्द्र मार्ग मथुरा

※ Rs 20--

मूल्य :

उन्नीस रुपये मात्र

भूमिका

भारतवर्ष के धार्मिक साहित्य में पुराणों का एक विशिष्ट स्थान है। यों तो हिन्दू धर्म में वेदों की प्रतिष्ठा सर्वोपरि है और अध्यात्म की दृष्टि से उपनिषदों को समस्त संसार में अद्वितीत माना गया है, पर लोक-प्रियता की दृष्टि से पुराणों का दर्जा बढ़ा-चढ़ा है। जिस प्रकार ऊँचे दर्जे का साहित्य थोड़े विद्वानों द्वारा समादृत होता है, पर सामान्य कोटि की मनोरंजक, तथा रुचिकर पुस्तकों का प्रचार अगणित जनता में होमा है, उसी प्रकार वेद और उपनिषदों के गूढ़ तत्वों का विवेचन जहाँ गिने चुने, विद्वानों तथा अध्ययनशील व्यक्तियों के काम की चीज होती है, वहाँ पुराणों की कथाओं को गाँवों के अपढ़ लोग भी सुनते और समझते रहते हैं। यद्यपि कुछ कारर्णो से पठित समुदाय में इनके सम्बन्ध में कई प्रकार की भ्राँतियाँ फैली हुई हैं और अनेक आधुनिकता का दावा करने वाले सज्जन इनको सर्वथा कल्पित भी कह देते हैं, पर इसका कारण यही है कि उन्होंने कभी पुराणों के अध्ययन का प्रयत्न नहीं किया। पुराणोंका उद्देश्य प्राचीन युगों की घटनाओं और परम्परागत ऐतिहासिक कथाओं को सरल तथा मनोरंजक शैली में वर्णन करना है। इनमें से कुछ वास्तविक, कुछ अर्ध-वास्तविक और कुछ धर्म, पुण्य व सच्चरित्रता की प्रेरणा देने के लिए कल्पित भी होती हैं। पुराणों में प्रत्येक विषय को धर्म, सदाचार, नीति का पुट देकर लोक-शिक्षा का माध्यम बनाने की चेष्टा की गई है। इसके लिए पुराण लेखकों को घटनाओं के वर्णन में संशोधन, परिवर्तन तथा कल्पना का आश्रय अवश्य लेना पड़ा है, पर उनका मूल आधार प्रायः ठीक ही है और यदि हम, उनके रूपक, अलंकार, अतिश-योक्ति, अर्थवाद का विश्लेषण करके अन्तराल में झाँकें तो अनेक बहुमूल्य और कल्याणकारी मणि-मुक्ताओं की प्राप्ति हो सकती है।

दूसरी बात यह भी है कि सब पुराणकार एक श्रेणी के और समान ज्ञान महत्व तथा दृष्टिकोण रखने वाले भी नहीं है। उनमें से कुछ काउद्देश्य पाठकों को अध्यात्मयोग, दर्शन, ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा देना है। कुछ किसी विशेष देवता और सम्प्रदाय के महत्व का प्रतिपादन करके अपने अनुयायियों की श्रद्धा को दृढ़ करने के उद्देश्य से रचे गये हैं। कई पुराणों में सीधी सादी धार्मिक कथाओं और दृष्टान्तों द्वारा लोगों को उपासना, पूजा, भक्ति, व्रत, जप, तप, सदाचार आदि की शिक्षायें दी गई हैं, जिसमें सामान्य मनुष्य अपने जीवन को अधिक शुद्ध, पवित्र बनाकर समाज के लिए हितकारी सिद्ध हो सके। फिर पुराणों का प्रचार और प्रभाव देखकर कुछ थोड़ी विद्या बुद्धि के लोगों ने छोटी-छोटी धार्मिक पुस्तकें लिखकर उनके नाम में भी 'पुराण' शब्द सम्मिलित कर दिया है। ऐसी स्थिति में जो लोग केवल दोष-दर्शन अथवा विरोधी की दृष्टि से ही पुराणों पर विचार करने लगते है उनको अपनी रुचि के अनुकूल विपरीत आलोचना, आक्षेप दोषारोपण का मामला भी उनमें मिल सकता है, पर हमारी सम्मति में उसकी न तो कोई उपयोगिता है, न प्रशंसा है और न उससे उनकी विद्या और बुद्धि की उत्कृष्टता का ही कोई प्रमाण मिलता है।

यदि पुराणों का गम्भीरता तथा सहानुभूति पूर्वक अध्ययन किया जाय तो मालूम होता है कि उनका मुख्य उद्देश्य वेद उपनिषद् दर्शन, स्मृतियों आदि शास्त्र ग्रन्थों में वर्णित धर्म, अध्यात्म, सृष्टिरचना, मानव सभ्यता के विकास सम्बन्धी गूढ़ तथ्यों का इस प्रकार विस्तार और व्याख्या सहित वर्णन करना था जिससे साधारण श्रेणी के जनसाधारण उनको समझकर लाभ उठा सकें। उनका दूसरा उद्देश्य उन्हें कथा के उपयोगी रूप में बनाना भी था जिससे अनपढ़ लोगों स्त्रियों और बालकों के सामने उनको बाँच कर उपदेश दे सकना सभव हो। इसलिए पुराणों को प्राय: आख्यान, उपाख्यान, दृष्टान्त रूपक कहानी आदि ऐसी सुगम और सरल शैली में लिखा गया है, जिससे सब प्रकार के व्यक्ति उनको प्रेम से सुन सकें और उनसे अपनी बुद्धि तथा स्थिति के अनुकूल लाभ उठा सके।

पौराणिक, साहित्य का एक लक्षण सर्ग (सृष्टि रचना) और प्रतिसर्ग

(सृष्टि का लय तथा विलीनता) के विषय में विचार करना है । यद्यपि यह एक बहुत जटिल तथा विवादगृस्त विषय है, जिसके सम्बन्ध में संसार के बड़े विद्वान् और वैज्ञानिक तरह-तरह के मतभेद प्रकट करते रहते हैं पर पुराणों में इसे देवासुर संग्राम के रूप में ऐसा मनोरंजक बना दिया है कि पाठक कहानी के द्वारा ही सृष्टि-विज्ञान के मोटे तथ्यों को जान लेता है । इसी तरह प्राचीन राजवंशों का वर्णन भी पुराणकारों ने परोपकार, उदारता, त्याग, तपस्या के उदाहरण दिखाने के ढंग से किया है । यह आवश्यक नहीं कि राजवंशों की ऐसी नामावलियों में प्रत्येक राजा के नाम आ ही जायें पर उनमें से ऐसे राजाओं को छांटकर उनका विशेष रूप से वर्णन किया गया है जिनके चरित्र और कार्यों से हम किसी प्रकार की सत्‌शिक्षा प्राप्त करके अपने जीवन को ऊँचा उठा सकते हैं।

इस दृष्टि से यदि हम कहें कि पुराण-ग्रन्थ भारत की प्राचीन संस्कृति, सभ्यता, इतिहास के भंडार हैं तो इसमें कोई अनुचित बात नहीं है । एक विद्वान् के कथनानुसार 'पुराणों में भारत की सत्य और शाश्वत आत्मा निहित है, इन्हें पढ़े बिना भारत का यथार्थ चित्र सामने नहीं आ सकता, भारतीय-जीवन की दृष्टिकोण स्पष्ट नहीं हो सकता । इनमें आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक सभी विद्याओं का विशद वर्णन है । लोक-जीवन के सभी पक्ष इनमें अच्छे प्रकार प्रतिपादित हैं । ऐसा कोई ज्ञान-विज्ञान नहीं, मानव मस्तिष्क की ऐसी कोई कल्पना या योजना नहीं, मनुष्य जीवन का कोई अंग नहीं, जिसका निरूपण पुराणों में न हुआ हो । जिन विषयों को अन्य माध्यमों से समझने में बहुत कठिनाई होती है, वे बड़े रोचक ढंग से, सरल भाषा में, आख्यान आदि के रूप में इनमें वर्णित हुए हैं ।' एक अन्य लेखक ने कहा है कि 'भारतीत धर्म, दर्शन और संस्कृति सदाचार एवं सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन से सम्बन्धित अनेक विषय पुराणों में आये हैं । वस्तुतः पुराणों की वर्णन शैली से स्तब्ध हो जाना पड़ता है । किन्तु इनमें सबसे महत्वपूर्ण अंश वेदों की अध्यात्म ब्रह्मविद्या या सृष्टि विद्या है, जिसे पुराणों ने खुलकर स्वीकार किया है । 'इतिहास पुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् ।' यह सूत्र ही मानों पुराण का रचना बीज बन गया था । इस दृष्टि से 'वेद-विद्या' का ही लोक सुलभ अवान्तर रूप 'पुराण-विद्या' है ।'

मार्कण्डेय पुराण की विशेषता–

महापुराणों के पाँच मुख्य लक्षण बताये गये हैं सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वतर और वंशानुचरित। यद्यपि ये लक्षण थोड़े बहुत अन्तर के साथ सभी प्रसिद्ध पुराणों में पाये जाते हैं तो भी जिन पुराणों का उद्देश्य किसी विशेष देवता या सम्प्रदाय की पुष्टि करना है, उनका विशेष ध्यान उसी तरफ लग जाता है और इन मूल विषयों के वर्णन को भी उसी रंग में रंग दिया जाता है। पर मार्कण्डेय 'पुराण' इस त्रुटि से अधिकांश में बचा हुआ है और उसमें मुख्य रूप से धर्म, नीति, सदाचार के प्रतिपादन को ही अपना लक्ष्य बनाया है। उसमें ब्रह्मा, विष्णु, शिव में से किसी देवता को बढ़ाने के लिए दूसरे की हीनता नहीं दिखाई गई है। इसी प्रकार अग्नि, सरस्वती, सूर्य आदि का भी समान भाव से स्तवन किया गया है। इस निष्पक्षता की भावना के फलस्वरूप इस पुराण में विभिन्न विषयों का यथार्थ रूप में वर्णन करने की तरफ ध्यान दिया गया है, जिनसे उनकी उपयोगिता बढ़ गई है इस दृष्टि से यह पुराण हिन्दू-धर्म की समन्वयवादी विचारधारा की एक बहुत उत्तम कृति है जिसने पृथक्-पृथक् सम्प्रदायों के भेदभाव मिटाने का प्रयत्न करते हुए सब देवों की एकता पर जोर दिया है। इसका विचार क्षेत्र इतना उदार है कि केवल हिन्दू सम्प्रदायों में ही नहीं वरन् बौद्ध और जैन जैसे सर्वथा भिन्न समझे जाने वाले मतों के प्रति भी पृथकत्व की भावना नहीं रखी है। भगवान् भास्कर की स्तुति करते हुए कहा है—

विस्पष्टा परमा विद्या ज्यतिर्भा:शाश्वती स्फुटा।
कैवल्यं ज्ञानमाविभू: प्रकाम्यं संविदेव च॥
बोधश्चावगतिश्चैव स्मृतिर्थिज्ञानमैव च।
इत्येतानीह रूपाणि तस्य रूपस्य भास्वतः॥

अर्थात् 'वैदिकों की पराविद्या ब्रह्मवादियों की शाश्वत ज्योति जैनों का केवल्यं, बौधों की बोधागति सांख्यों का ज्ञान योगियों का प्राकाम्य,

वेदान्दियों का संवित्, धर्म शास्त्रियों की स्मृति योगाचार का विज्ञान ये सब रूप एक ही महाज्योतिष्मान सूर्य के विभिन्न दर्शन हैं।'

इसकी दूसरी विशेषता 'कर्म' को प्रधानता देना है। अन्य अनेक लेखकों ने जहां-यज्ञ-हवन आदि को ही धर्म का साधन माना हैं अथवा गृह त्याग करके तपस्वी या संन्यासी बन जाने को आत्म-कल्याण का मार्ग बतलाया है, वहाँ 'मार्कण्डेय पुराण' में 'देवतत्व' 'इन्द्रत्व' और ब्राह्मणत्व तक को कर्मों का परिणाम बतलाया है। यहाँ कर्म का तात्पर्य पूजा, पाठ जप तप से नहीं वरन् परोपकार और दुःखी प्राणियों के कष्ट निवारण से ग्रहण किया गया है। ऐसे कर्म की प्रशंसा करते हुए पुराणकार कहते हैं—

'मनुष्य का जो कर्म करुण से प्रेरित होता हैं और जिसमें किसी प्रकार के कपट का भाव नही होता, उससे मनुष्य को किसी प्रकार का बन्धन नहीं होता और उसकी आत्मा शुद्ध हो जाती है।'

बौद्ध और जैन धर्म के प्रभाव से देश में जब भिक्षु, मुनि श्रमण आदि की संख्या बहुत अधिक बड़ा गई थी और गृहस्थ धर्म का उत्तरदायित्व पूरा किये बिना ही 'निर्वाण' और 'मोक्ष' नाम पर कार्यक्षम व्यक्ति निकम्मा जीवन व्यतीत करने लगे थे तब मार्कण्डेय ने गृहस्थ-आश्रम की श्रेष्टता प्रतिपादित की और स्पष्ट शब्दों में कहा कि 'जो गृहस्थ धर्म का पालन करके पूर्वजों तथा समाज के प्रति अपने कर्तव्य का पालन नहीं करता वह गृह त्याग करके भी किसी प्रकार की सुगति किस प्रकार प्राप्त कर सकता है ? इस पर जब विपक्षी यह आक्षेप करते थे कि वेद और उपनिषदों में कर्म-मार्ग को अविद्या कहा है तो फिर उसका अनुसरण क्यों करना चाहिए, तो मार्कण्डेय का उत्तर था कि 'वेदों का यह कथन असत्य नहीं है कि कर्म 'अविद्या' है पर साथ ही यह भी कह दिया है कि विद्या तक पहुँचने का मार्ग अविद्या ही हैं। कर्तव्य-कर्म का पालन करके जो संयम का ढोंग करता है वह उत्थान के बजाय अधोगति के गढ़े में गिरता है।'इस सिद्धान्त का बहुत स्पष्ट समर्थन 'ईशोपनिषद्' में किया गया है जिसमें विद्या और अविद्या का समन्वय करते हुए कहा है।

विद्या चाविद्या च यस्तद वेदोमयं सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ।।

अर्थात् मनुष्य के लिये विद्या रूप ज्ञान-तत्व और अविद्या रूप कर्म-तत्व दोनों का जानना ही आवश्यक है। वह कर्मों के अनुष्ठान से मृत्यु को पारकर ज्ञान के अनुष्ठान अमृतत्व का उपभोग करता है।' सांसारिक जीवन में सफलता प्राप्त करने के लिए कर्मों से कुशल होने की आवश्यकता है और पारलौकिक जीवन में सर्वश्रेष्ठ स्थिति तक पहुँचने के लिए ज्ञान का होना अनिवार्य है। साथ ही यह भी निश्चित है कि कर्म की कुशलता प्राप्त किये विना ज्ञान और मोक्ष का दावा करना एक प्रकार की मूढ़ता है। गीता में भी 'योग: कर्मसु कौशल' कहकर इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। शुकदेव और दत्तात्रेय जैसे पूर्व जन्मके सिद्ध योगियों का उदाहरण तो अपवाद स्वरूप है सामान्य मनुष्यों के लिए जीवन को सार्थक बनाने का कर्म के अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नही हैं।

गृहस्थ धर्म के प्रतिपादन के साथ मार्कण्डेय ने नारी के महत्व को भी बतलाया है और सामाजिक जीवन में उसे उचित स्थान दिये जाने का समर्थन किया है। यद्यपि बौद्ध-युग में स्त्रियों को भी भिक्षुणी बनने का विधान था, पर गृहस्थी के रूप में उनके दर्जे को बहुत घटा दिया था। उनके कथनासार नारी मोक्ष प्राप्ति में एक बड़ी बाधा है इसलिए उसका त्याग और उपेक्षा ही मोक्षाभिलाषी के लिए अवश्यक है। स्वयं बुद्ध भी अपनी स्त्री यशोधरा को आकस्मिक रूप से छोड़कर चले आये थे इससे इस भावना को और भी अधिक बल मिला था। 'मार्कण्डेय पुराण' ने इस धारणा को सर्वथा अग्राह्य बतलाकर स्त्रियों के ऐसे उपाख्यान उपस्थित किये जिनमें उनको धर्म अर्थ काम मोक्ष की पूर्ण रूप से सहायिका माना गया। मदालसा उपाख्यान (१६,६६,७०) में कहा गया है—

'पति को भार्य्या की सदा रक्षा और पालन करना चाहिए। भार्य्या भर्ता की सहायता होने पर सम्यक प्रकार धर्म अर्थ काम की सिद्धि का

निमित्ति होती है। भार्य्या और भर्त्ता दोनों ही जब-परस्पर में अनुकूल होते हैं तभी धर्म की प्राप्ति होती है। धर्मादि त्रिवर्ग में समाहित होने के कारण पुरुष जिस प्रकार भार्य्या के बिना कभी धर्म अर्थ का लाभ करने में समर्थ नहीं होता उसी प्रकार भार्य्या भी स्वामी के बिना धर्म-साधन में समर्थ नहीं होती। ये धर्म आदि दोनों के ही सम्यक प्रकार से आश्रित रहते है। उदाहरण के लिए देवता पितृ, भृत्य और अतिथियों का सत्कार न होने, से धर्माचरण की पूर्ति नहीं होती। यदि पुरुष पर्याप्त धन कमा कर ले आवे पर घर में भार्य्या न हो अथवा वह कुभार्य्या हो तो वह सब धन बिना कुछ लाभ पहुँचाये क्षय को ही प्राप्त होता है। इसलिए पुरुष और स्त्री जब समान रूप से धर्म का पालन करते हैं, तभी त्रयी धर्म लाभ करने में समर्थ होते हैं।'

मार्कण्डेय पुराण के पांच विभाग:—

यद्यपि यह पुराण मार्कण्डेय ऋषि के नाम से प्रसिद्ध हैं, पर इसमें वर्णित कथा प्रसङ्गों के आधार पर ही यह प्रकट होता है कि यह कई वक्ताओं के मुख से निकल कर पूर्ण हुआ है। हम निम्न रीति से इसे ५ भागों में विभाजित कर सकते हैं।

(१) अध्याय १ से ९ तक जैमिनि ने मार्कण्डेय से महाभारत सम्बन्धी शङ्काओं के चार प्रश्न पूछे हैं। पर मार्कण्डेय ने समयाभाव से उनका उत्तर स्वयं न देकर जैमिन को विन्ध्याचल पर्वत में रहने वाले धर्म.पक्षियों के पास भेज दिया जिन्होंने उनकी शंकाओं का पूर्ण रूप से समाधान किया।

(२) अध्याय १० से ४४ तक प्राणियों के जन्म, मरण, विकास आविर्भाव, तिरोभाव आदि के विषय में प्रश्न किया गया। इसका उत्तर वैसे धर्म पक्षियों ने दिया, पर इनका वास्तविक वक्ता जड़ सुमति है, जिसने किसी समय अपने पिता को यही कथा सुनाई थी।

(३) अध्याय ४५ से ८० तक मार्कण्डेय ने अपने शिष्य क्रौष्टुकि के प्रति इस पुराण के मूल विषय का वर्णन किया है।

(४) अध्याय ८१ से ९२ तक देवी की कथा है, जिसे मेधा ऋषि ने कहा है। यह कथा देवी भागवत से मिलती हुई है तथा अन्य पुराणों में भी यह विस्तार के साथ पाई जाती है।

(५) अध्याय ९३ से अन्तिम अध्याय तक कुछ विशेष राजाओं का वर्णन किया गया है।

इस पुराण में वर्णित आख्यानों की विविधता और कई वक्ताओं के मुख में इसका कथन देखते हुए स्वाभावत: यह अनुमान होता है कि मूल पुराण में कुछ उपयोगी अंश बाद में संग्रह करके सम्मिलित किये गये हैं। तो भी देशी और विदेशी विद्वान् आलोचकों की सम्मति के अनुसार यह अब से सोलह-सत्रह सौ वर्ष पूर्व वर्तमान रूप में आ चुका था।

मार्कण्डेय पुराण के मुख्य विषय–

इस पुराण का आरम्भ जैमिन और मार्कण्डेय के सम्वाद के रूप में होता है। जैमिनि व्यासजी के शिष्य थे और उनकी जगत् प्रसिद्ध रचना महाभारत के बहुत बड़े प्रशंसक थे तो भी स्वतन्त्र चिन्तक होने के कारण उन्हें उसकी कुछ घटनाओं में सन्देह हुआ और मार्कण्डेयजी से उन्होंने उनका समाधान करके की प्रार्थना की उनके चार प्रश्न इस प्रकार थे– (१) जगत् की सृष्टि स्थिति संहार करने वाले वासुदेव निर्गुण होकरभी किस कारण मनुष्यत्व कृष्णावतार को प्राप्त हुए? (२) अकेली द्रौपदी किस प्रकार पाँचों पाण्डवों की महिषी हुई? (३) महाबलशाली बलरामजी ने किस प्रकार तीर्थयात्रा करके ब्रह्म हत्या का प्रायश्चित किया? (४) महातेजस्वी पाण्डवों द्वारा द्रोपदी से उत्पन्न पाँचों पुत्र किस कारण अवव्राहित अवस्था में ही मारे गये? इन प्रश्नों पर विचार किया जाय तो प्रथम प्रश्न ही महत्व का हैं, जिसका निर्णय करने का अति प्राचीनकाल से आज तक होता आता है। जब कि परमात्मा पूर्णतया और निराकार है तो वह किस प्रकार सगुण बनकर संसार की रचना की व्यवस्था ही नहीं करता वरन् मनुष्यों के रूप में अवतार लेकर दुष्टों से इसकी रक्षा भी करता है। यह प्रश्न सदैव दार्शनिकों तथा विचार-

शील लोगों के मध्य विवाद का विषय बना करता है। अन्य धर्म वालों ने भी अपने बुद्ध तीर्थङ्कर, ईश्वर-पुत्र आदि को विशेष आत्मा के रूप में बतलाया है पर पौराणिक सिद्धान्त के अनुसार साक्षात् परब्रह्म का इस पृथ्वी पर अवतीर्ण होना एक ऐसी घटना है जिसका समाधान सहज में नहीं किया जा सकता ? इसलिए जैमिनि ने उस युग के श्रेष्ठ ज्ञानी समझे जाने वाले मार्कण्डेय के सामने सर्वप्रथम प्रश्न यही रखा कि वे निर्गुण या सगुण की समस्या का ठीक ढङ्ग से निर्णय करें।'

अगले अध्याय में उन चार धर्म पक्षियों की कथा का वर्णन किया गया है जिनके मुख से मार्कण्डेय पुराण कहलवाया गया है यद्यपि यह कथा मुख्यत: अभिमान से हानि और अतिथि सत्कार की पराकाष्ठा दिखाने के उद्देश्य से ही लिखी गई पर उसमें स्थान-स्थान पर महत्व-पूर्ण दशाओं को सन्निवेशित किया गया है। जैसी जीवन की अस्थिरता का वर्णन करके मनुष्य को प्रत्येक अवसर पर निर्भय रहकर कठिनाईयों का सामना करने के सम्बन्ध में कहा गया हैं—

'युद्ध से भागने वालों तथा युद्ध में लड़ने वालों का जीवन उतना ही होता है जितना विधाता द्वारा स्थिर किया रहता है। किसी का भी जीवन उसकी इच्छा के अनुसार नहीं होता। कोई अपने घर में रहने पर भी मरता है, कोई भागकर भी मरता है, कोई खाते-पीते ही मर जाता है। कोई स्वस्थ शरीर से विलास करता हुआ शस्त्रादि से बचकर भी काल के कराल गाल में जा पड़ता हैं, कोई तपस्या में निरत और कोई योगाभ्यास करते यमालय गया है, किन्तु अमर कोई नहीं हुआ। इसलिए कार्यरता पूर्वक युद्ध से विमुख होना मनुष्य के लिए सर्वथा अशोभनीय हैं।

धर्म-पक्षियों का उपाख्यान–

तीसरे अध्याय में एक सत्यनिष्ठ सुकृत नामक मुनिका उपाख्यान है। इनकी परीक्षा लेने के लिए इन्द्र बुड्ढे गिद्ध का रूप धारण करके आया और उनसे अपने आहारके लिए मनुष्य का माँस माँगा सुकृतने पहले अपने चारों पुत्रों को बुलाकर गिद्ध का आहार बनने के लिए कहा पर वे भयवश

इसके लिए तैयार न हो सके। तब पिता ने उनको पक्षी की योनि में उत्पन्न होने का शाप दिया और स्वयं गिद्ध का आहार बनने के लिए देह त्याग करने लगा। इस पर इन्द्र ने प्रकट होकर उसकी बड़ी प्रशंसा की और इच्छानुसार वरदान दिया। इस प्रसंग में चारों पुत्रों ने मानव-शरीर की वास्तविकता का जो वर्णन किया है वह बड़ा भावपूर्ण और साथ ही कवित्वमय है। उन्होंने कहा—

'यह मानब-देह एक नगर के ममान है जो प्रज्ञा रूपी चहार दीवरी से घिरा हुआ है। हड्डियाँ इसके खम्भे है इसकी दीवारें चमड़े से बनी हैं और रक्त, माँस, चर्वी आदि से लिपी हैं। नसों का जाल इसे चारों ओर से घेरे हुए हैं, इस पुरी के बहुत बड़े नौ दरवाजे हैं जिसके भीतर चैतन्य रूपी पुरुष राज्य करता है। मन और बुद्धि राजा के दो मन्त्री है पर आपस में विरोध रहने के कारण वे एक दूसरे का प्रतिरोध करने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। काम, क्रोध, लोभ और मोह नामक राजा के चार शत्रु हैं वह सदा राजा के नाश की चेष्टा करते रहते हैं।'

वह राजा जिस समय नौ द्वारों को रोक कर भीतर प्रस्थान करता है तब उसकी शक्ति सुरक्षित रहती है और वह निर्भय होकर रहती है। उस समय शत्रुओं का उस पर कुछ भी वश नहीं चलता पर जब वह सब द्वारों को खोलकर रहता है तब 'अनुराग' नामक शत्रु नेत्रादि से आक्रमण करता है। यह शत्रु सर्वव्यापी और अत्यन्त प्रबल है। उसी समय लोभ, मोह और क्रोध रूपी तीनों शत्रु उसके पीछे-पीछे दौड़ते हैं। वह राग रूपी शत्रु इन्द्रिय रूपी दर्वाजों द्वारा पुरी में घुसकर मन और बुद्धि के संग संयुक्त होने की अभिलाषा करता है। यह दुर्द्धष राग समस्त इन्द्रियों और मन को वशीभूत करके प्रज्ञा रूपी परकोटा का भग्न करता है। बुद्धि भी मन को राग के वशीभूत देखकर तत्काल नष्ट हो जाती है। तब अमात्यहीन तथा प्रज्ञा द्वारा त्यागा हुँआ राजा अकेला रह जाता है और शत्रुगण उसके छिद्रों (निबंल स्थानों) को जानकर उसे नष्ट कर डालते हैं। काम, क्रोध, मोह, लोभ रूपी चारों शत्रु स्मृति-शक्ति का

नाश कर देते हैं। राग से क्रोध होता है, क्रोध से लोभ उत्पन्न होता है लोभ से मोह की उत्पत्ति और उससे स्मृति नाश होता है। स्मृति नाश से बुद्धि नाश और बुद्धि का नाश होने से सर्वनाश होता है।

निर्गुण और सगुण ब्रह्म तथा अवतार—

जैमिनि ने प्रथम प्रश्न के उत्तर में कि निर्गुण ब्रह्म सगुण रूप क्यों और कैसे धारण करते हैं पक्षियों ने एक 'चतुर्व्यूहात्मक' सिद्धान्त का वर्णन किया। उन्होंने कहा कि 'तत्वदर्शी मुनियों के मतानुसार नार' जल को कहते हैं। वह 'नार' ही एक मात्र जिसका अयन अर्थात् घर था उसको 'नारायण' कहा जाता है। वही अनन्तलीला निधान भगवान् विभु नारायण' सगुण और निर्गुणात्मक द्विविध रूप से चार मूर्तियों में अवस्थित हैं। उनकी एक मूर्ति जो अनिर्देश्य अर्थात् वाणी से अतीत है, पंडित लोग, जिसको शुक्ल वर्ग कहते हैं, जो नित्य रूपिणी मूर्ति तीनों गुणों को अति क्रम करके दूर और निकट स्थित रहती है, उस प्रधान स्वरूप पहिली मूर्ति का नाम 'वासुदेव' मूर्ति है। इसमें ममता का लेश-मात्र भी नहीं है। उसका रूपवर्ण, नाम जो कुछ कहा जाता है वह सब कल्पनामय है, क्योंकि योगी भी उसका वास्तविक अनुभव नहीं कर सकते वह मूर्ति सब काल विराजमान परम पवित्र तथा सदा एक रूप हैं।

दूसरी मूर्ति 'शेष' या संकर्षण' के नाम से पाताल में निवास करती है और इस पृथ्वी को मस्तक पर धारण किये हुए हैं। इस मूर्ति ने तामसी होने से तिर्यगयोनि अवलम्बन की है। तीसरी मूर्ति जिसके कारण सम्पूर्ण कर्म सम्यक् प्रकार साधित होते हैं, जिसके द्वारा प्रजा पालनादि सब कार्य सम्पादित होते हैं, उस सत्वगुणमयी मूर्ति का नाम 'प्रद्युम्न' मूर्ति है। चौथी मूर्ति पन्नग शैया पर जल में शयन करके वास करती है, वह रजोगुण युक्त है। उसके द्वारा ही सदा सृष्टिकार्य सम्पम्न होता है, इस मूर्ति का नाम 'अनिरुद्ध' मूर्ति है। भगवान् की प्रजापालन कारिणी जो तीसरी प्रद्युम्न मूर्ति है, उसी के द्वारा पृथ्वी में सदा धर्म संस्थापन होता है। धर्म का विनाश करने वाले उद्धत असुरगण उसी के द्वारा मरते हैं और उनके द्वारा ही धर्म रक्षा परायण प्राणी रक्षित होते हैं।

मार्कण्डेय पुराण के मतानुसार उस सृष्टिकर्ता परमेश्वर में निर्गुण और सगुण, अमूर्त और मूर्त, पर और अपर इन दोनों का समन्वय पाया जाता है। जो 'अमूर्त' और 'पर' है उसी का 'अरूप' कहा गया है, एवं जो 'मूर्त' और 'अपर है वही उस परमआत्मा-नारायण विष्णु का विश्व स्वरूप है। जो लोग समझते हैं कि भगवान् केवल क्षीरसागर में शयन कर रहे हैं अथवा वैकुण्ट में विराजमान हैं या गोलोक में लीला कर रहे हैं, वे अभी सत्य से दूर हैं। भगवान् तो एक सर्वव्यापी तत्व हैं और इस विश्व में जहाँ जो कुछ दृष्टिगोचर होता है वह उन्हीं का रूप है। इस तथ्य को 'विष्णु पुराण' में भी अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में वर्णन किया है—

न तद्योग पूजां शक्यं नृपः चिन्तयितुं यतः।
ततः स्थूल हरेरूप चिन्तयेद्विश्व गोचरम् ॥५५
हिरण्यगर्भो भगवान् वासबोऽथ प्रजापतिः।
मारुतो वसवो रुद्रा भास्करोस्तारका ग्रहाः ॥५६
गन्धर्वयक्षा दैत्याद्याः सकला देवयोनयः।
मनुष्याः पशवः शैलाः समुद्राः सरितः द्रुमाः ॥५७
भूतं भूतान्य शेषाणि भूतानां ये च हेतवः।
प्रधानादि पंचतन्मात्र विशेषान्तं चेतनान्तकम् ॥५८
एक पादं द्विपादं च बहुपादमपादकम्।
मूर्तमेतत् हरेरूपं भावनात्रियात्मकम् ॥५९
एते सर्वमिदं विश्वं जगदेतच्चराचरम्।
परब्रह्म स्वरूपस्य विष्णोः शक्तिसमन्वितम् ॥६०

(६—७)

अर्थात् 'ये जो विश्व में सर्वत्र दिखालाई पड़ने वाले पदार्थ हैं' यह विष्णु का स्थूल रूप है। हिरण्यगर्भ ब्रह्मा, भगवान् वासुदेव, प्रजापति मरुद्गण, वसु रुद्र, आदित्य, नक्षत्र, गृह, गन्धर्व, यक्ष, दैत्य आदि देवयोनियाँ मनुष्य पशु पर्वत, समुद्र, नदियाँ, वृक्ष सम्पूर्ण भूत और उन भूतों के जितने कारण प्रधान (मूल प्रकृति) से लेकर पंच तन्मात्राओं तक हैं और जिसमें चेतन-

अचेतन दोनों सम्मिलित हैं, एक पाद, द्विपाद बहुपाद पर बिना पैरों वाले (सरीसृपादि) जितने प्राणी हैं वे सब विष्णु के मूर्ति रूप हैं। इसे ही 'इदं सर्वम् या चराचर जगत् कहते हैं। इसकी रचना तीन प्रकार की भावनाओं से हुई—ब्रह्म भावना कर्म भावना और आध्यात्मिक भावना इन्हें क्रमशः सत्व रज और तम भी समझा जा सकता है। परब्रह्म रूप विष्णु जब अपनी शक्ति से संयुक्त होता है तब इन्हीं तीन भावों में अपने को प्रकट करता है।'

भगवान् के निर्गुण और सगुण रूप का विवेचन करते हुए 'ब्रह्म पुराण' में कहा गया है कि 'तत्वदर्शी मुनियों ने जल को 'नार' कहा है। वह नार पूर्व काल में भगवान् का 'अयन' (गृह) हुआ, इसलिए वे 'नारायण कहलाये, वे भगवान् नारायण सबको व्याप्त करके स्थित हैं। वे ही निर्गुण सगुण भी कहे जाते हैं। वे दूर भी हैं और समीप भी हैं। जिनसे लघु और जिनसे महान् दूसरा नहीं है जिन अजन्मा प्रभु ने सम्पूर्ण जगत् को व्याप्त कर रखा है जो आविर्भाव तिरोभाव, इष्ट, अदृष्ट से विलक्षण है, सृष्टि और संहार भी जिनका रूप बतलाया जाता है, उन आदि देव परब्रह्म परमात्मा को हम प्रणाम करते हैं। जो एक होते हुए भी अनेक रूपमें प्रकट होते हैं, स्थूल-सूक्ष्म, व्यक्त-अव्यक्त जिनके स्वरूप हैं, जो जगत् की सृष्टि, पालन और संहार के मूल कारण है, उन परमात्मा को नमस्कार है।'

'मार्कण्डेय' विष्णु' ब्रह्म' आदि सभी पुराण इस विषय में एकमत है कि जो निर्गुण-निराकार ब्रह्म अनादि और अरूप कहा जाता है वही सगुण और साकार होकर इस चराचर विश्व को प्रकट करता है। उसको सबसे पृथक किसी अगम्य स्थान में विराजमान मानना निरर्थक है वरन् वह विश्व के प्रत्येक छोटे और बड़े से बड़े पदार्थ में व्याप्त है और जिसे इस सर्वव्यापी ब्रह्म की अनुभूति प्राप्त हो गई है वह प्रत्येक स्थान और प्रत्येक पदार्थ में उसके दर्शन कर सकता है। इसी रहस्य को 'रामायण' में शिवजी ने अत्यन्त संक्षेप में कह दिया है—

हरि व्यापक सर्वत्र समाना।
प्रेम ते प्रकट होंहि मैं जाना॥

द्रौपदी के पाँच पति और पंचेन्द्र उपाख्यान–

जैमिनि के दूसरे प्रश्न का उत्तर देते हुए पक्षियों ने कहा कि द्रौपदी कोई सामान्य नारी न थी वरन् वह अग्नि से प्रकट हुई साक्षात् सती थी जो द्रुपद की कन्या के रूप में अवतीर्ण हुई थी। इसी प्रकार पाँचों पांडव भी पाँच रूपों में इन्द्र के हीं अवतार थे। इन्द्र को समझौते के विरुद्ध त्रिशिरा तथा वृत्रों के वध तथा अहिल्या सतीत्व भंग करने के अपराध में अपनी समस्त शक्तियों धर्म, तेज, वल और रूप से वञ्चित हो जाना पड़ा था,। वे ही शक्तियाँ धर्मराज वायु, स्वयं इन्द्र और अश्विनी-कुमारों के द्वारा कुन्ती तथा माद्री के गर्भ से उत्पन्न हुई थी। इस प्रकार द्रौपदी वास्तव में पाँच रूपों को प्राप्त एक मात्र इन्द्र की ही पत्नी थी।

महाभारत में भी पाँचों पाण्डवों को पाँच इन्द्रों का अवतार वतलाया है और कहा है कि किसी समय वैवस्वत यम ने नैमिषारण्य में होने वाले एक दीर्घकाल व्यापी यज्ञ में दीक्षाली और उस समय प्रजाओं को मारने का काम बन्द कर दिया। इससे मनुष्यों की संख्या बहुत बढ़ गई और इससे देवताओं को डर पैंदा हो गया। तब इन्द्र और अन्य देवता ब्रह्माजी के पास पहुँचे और उनसे रक्षा करने की प्रार्थना की। ब्रह्माजी ने उनको वास्तविक कारण बतलाकर नैमिषारण्य जाने को कहा। वहाँ पहुँचने पर उन्होंने गंगाजी में एक स्त्री को रोते देखा जिसके आँसू जल में गिर-कर सोने के फूल बनते जाते हैं। इन्द्र ने उससे रोने का कारण पूछा। वह उनको हिमालय पर ले गई जहाँ एक तरुण तथा तरुणी बैठे हुए पासा खेल रहे थे। इन्द्र ने उनको पहिचान कर कहा-मैं इन्द्र हूँ सब भुवन मेरे वश में हैं।' इस पर शिवजी ने क्रुद्ध होकर उसे एक अँधेरी गुफा में भेज दिया जहाँ वैसे ही चार इन्द्र पहले से बन्द थे। जब उन सबने अपने छुटकारे की प्रार्थना की तो भगवान् शिव ने कहा कि तुम्हारा छुटकारा तब होगा जब तुम पृथ्वी पर मनुष्य-जन्म लेकर पराक्रम के कार्य करके

दिखलाओगे। उस स्त्री से भी शिवजी ने इनके साथ पृथ्वी पर जन्म लेकर इनकी पत्नी बनने को कहा।"

एक और उपाख्यान भी महाभारत के आदि पर्व में इस सम्बन्ध में पाया जाता है, जिसमें कहा है कि एक ऋषि कन्या ने पति की प्राप्तिके लिए शिवजीकी आराधना करके कठिन तप किया था और जब वे वरदान देने को उपस्थित हुए तो उसने 'पति' देहि शब्द पाँच बार कहा। शिवजी ने कहा कि तुमने पांच बार पति के लिए कहा है इससे तुम्हारे पाँच पति होंगे।

वास्तविक बात यह है कि बहु-पतित्व की प्रथा जो पंजाबके पहाड़ी प्रदेश कुल्लू में अभी तक चली आती है, भारत के शेष भाग में अनैतिक मानी जाती है। इसलिए महाभारतमें द्रोपदी के पाँच पतियों काउल्लेख करने के पश्चात् उसे धर्म तथा नीतियुक्त सिद्ध करने के लिए आख्यानों के रूप में उसका कारण समझाना पड़ा। आध्यात्मिक दृष्टि वाले विद्वानों ने इसका स्पष्टीकरण वैदिक साहित्यमें वर्णित 'पंचेन्द्र' कल्पनाके आधार पर किया है। उनका कथन है कि मानव शरीर में स्थित पाँचों इन्द्रियों का संचालन पांच प्राणों द्वारा होता है। प्रत्येक 'प्राण' को इन्द्र कहा जाता है और उसी के कारण 'इन्द्रिय' नाम पड़ गया है। इन पांचों के पीछे एक मध्यप्राण है जो इन पांचों को प्रदीप्त रखता है। इसको महेन्द्र कहा गया है ? इस प्रकार एक मुख्य प्राण शक्ति पाँच इन्द्रियों के साथ सहयोग करती है। पुराणों में वैदिक तत्वों को उपाख्यानों के रूप में डालकर समझाने की शैली अपनाई गई है उसका परिणाम यह पाँच इन्द्रों द्वारा पांडवों की उत्पत्ति का कथानक है।

द्रौपदी के पाँच पतियों के इन उपाख्यानों से नैतिक शिक्षा यह भी प्राप्त होती है कि सदाचार का त्याग करने से इन्द्र जैसा शक्तिमान् देवराज भी उसके कुपरिणाम से नहीं बच सकता। पर स्त्री गमन और वचन-भंग के दोष से इन्द्र का पतन हो गया और उसको नरलोक में आकर उसका प्रायश्चित करना पड़ा।

हरिश्चन्द्र का अमर उपाख्यान—

जैमिनि के तीसरे प्रश्न के उत्तर में कि बलराम को ब्रह्म-हत्या कैसे लगी और किस प्रकार उन्होंने तीर्थ यात्रा करके उससे छुटकारा पाया, पक्षियों ने जो छोटा-सा उपाख्यान बलरामजी के स्वभाव के सम्बन्ध में कहा है उसमें कोई विशेषता नहीं है। पर चौथे प्रश्न ' द्रोपदी के पाँचों पुत्र अविवाहित अवस्था में ही अनाथ की तरह क्यों मार डाले गये ?" का उत्तर देते हुए पक्षियों ने राजा हरिश्चन्द्र का जो उपाख्यान सुनाया है वह भारतीय धार्मिक-साहित्य की एक अमर कृति है। इसमें दिखलाया गया है कि मनुष्य सत्य-व्रत का पालन करते हुये कहाँ तक दृढ़ता रख सकता है और फिर उसी के आधार पर कैसे उच्च से उच्च स्थिति प्राप्त कर सकता है।

राजा हरिश्चन्द्र के इस उपाख्यान में जैसी घोर दुर्दशा दिखलाईहै और विश्वामित्र को जैसे नृशंस रूप में चित्रित किया है उससे इसमें कुछ अस्वाभाविकता आ गई है और इसकी वास्तविकता में संदेह होने लगता हैं, पर लेखक ने इसमें करुण भाव का इतना अधिक समावेश कर दिया कि उससे श्रोताओं की आत्मा विह्वल हो जाती है और उन्हें विचार करने की सुधि नहीं रहती कि इसमें कहाँ तक वास्तविकताहै और कितना अंश कहानी का है। आज तक करोड़ों व्यक्ति 'सत्य हरिश्चन्द्र'के दृष्टात से सत्य की महिमा को स्वीकार कर चुके हैं। वर्तमान युगके महामानव महात्मागाँधी ने भी अपनी 'आत्म कथा'में कहा है कि सबसे पहले हरिश्चन्द्र का नाठक देखने से ही उनकी हृदय भूमि में सत्य-प्रेम का पौधा बोया गया था जो समय और परिस्थितियों से वृद्धि को प्राप्त होता हुआ अन्त में समस्त भारतीय समाज को अपनी प्राणदायक छाया में लाने में समर्थ हुआ।

नरकों का स्वरूप और विवरण—

दसवेंसे पन्द्रहवें अध्याय तक भार्गवके पुत्र सुमतिके मुखसे पुनर्जन्म तथा नरकोंका वर्णन करायागया है। सुमति बाल्यास्थासे ही अत्यन्त-शांत

स्वभाव और सब प्रकार कीसुख-सामग्री की तरफसे उदासीन रहनेवाला था, जब उसका उपायन होने का अवसर आया और पिता ने उसे चारों आश्रमों के कर्तव्यों का उपदेश दिया तो उसने हसकर कहा कि 'हेदिता' आपने इस समय मुझे जो उपदेश दिया है मैंने अनेकबार उसको सुना-तथा उसका अभ्यास किया है। अनेक शास्त्रों तथा बहुत प्रकार शिल्पों का भी मैंने अभ्यास किया है, मैंने अनेक बार दुःख पाया, अनेक बार सुख प्राप्त किया, अनेकबार उच्चदशाका और फिर हीन अवस्थाका अनुभव किया। मुझे इन सब बातोंका ज्ञानहै तो अब वेदाभ्यासका क्यों प्रयोजन है ? मेरा अनेकबार शत्रु-मित्र और सम्बन्धियों से मिलाप और वियोग हुआ है अनेक माता तथा अनेक पिता देखे हैं, हजारों सुख-दुख सहन किये हैं। मलमूत्र से भरे स्त्री के जठर में अनेक बार बास किया है, सहस्त्र रोगोंकी दारुण यंत्रणा भोगी है। मैंने कितनी बार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र पशु कीट मृग और पक्षी की योनि में जन्म ग्रहण किया है। जिस प्रकार इस समय आपके घरमें उत्पन्न हुआ हूँ ऐसे अनेक बार राज सेवकों और अनेकबार योद्धाओंके घर में उत्पन्न हुआ हूँ। मैं अनेकबार मनुष्योंका भृत्य और दास बना हूँ और अनेकबार स्वामी तथा प्रधान भी हो चुका हूँ। मैंने अनेक मनुष्योंको माराहै अनेकबार अन्य मनुष्योंद्वारा मारागया हूँ। मैंने अनेकबार दान किया है और अनेकबार औरोंसे ग्रहणभी किया है। हे तात ! इस प्रकार संकटमय संसार चक्र में निरन्तर भ्रमण करते हुए मुझे यह ज्ञान प्राप्त हुआ है कि वेदों के कर्म काण्डोंके मार्गसे इस दु.खदायी संसार-चक्र से छुटकारा नही पासकता। जब मैं मोक्ष प्राप्ति के वास्तविक मार्ग को जान चुका हूँ तब मुझे वेदा-भ्यास की क्या आवश्यकता है।'

इस प्रकार सुमति ने पुनर्जन्म के सिद्धान्त का बड़े स्पष्ट रूपसे वर्णन कियाहैं और स.थही सकाम कर्मकाण्ड के मार्गकी अपेक्षा निष्काम भावसे कर्तव्य पालनकी श्रेष्ठता भी बतलाई है। साथही उस युगमें बोद्धभिक्षुओं तथाहिन्दू सन्यासियोंमें संसारके सब बन्धनोंको त्यागकरआत्म साक्षात्कार और ब्रह्म प्राप्तिका जोआदर्श पायाजाताहै उसकाही प्रतिपादन किया है।

पर यह पुराणकार का निजी अभिमत अथवा अंतिम निर्णय नहीं है। आगे चलकर उन्होंने गृहस्थ धर्म का पालन किये विना कर्म त्याग और सन्यास की भर्त्सना भी की है और कहा है कि जो व्यक्ति 'आश्रमों के राज-मार्ग को त्याग छलाँग मारकर मुक्ति-पद पर पहुँच जाना चाहता है उसे प्राय: नीचे ही गिरना पड़ता है।'

नरकों का वर्णन प्राय: सभी पुराणोंमें एक-सा पाया जाता है विभिन्न प्रकार के पापोंके फलसे मरणोपरांत भयंकर कष्ट भोगने पड़ते हैं पापियों को दण्ड प्रहार करते हुए कुश, काँटें, गड्ढे, पथरीली भूमि पर खींचकर ले जाया जाता है और बारह दिन भयंकर आकृति वाले यमराज के सम्मुख खड़ा किया जाता है। वहाँ 'मिथ्यावादी, मिथ्या साक्षी देने वाले, मनुष्य और अन्य प्राणियों की हत्या करने वाले, भूमि सम्पत्ति तथा स्त्री का हरण करने वाले, अगम्या स्त्रियों से दुराचार करने वाले लोगों को रौरव नरक में डाला जाता है। वह रौरव नरक दो हजार योजन विस्तृत है और उसमें जांघ की बराबर गहरा गढ़ा है। उस गढ़े में लाल अंगारे भरे रहते है जिन पर होकर पापी मनुष्य को चलना पड़ता है उसके पैर पग-पग पर अग्नि से फटते और नष्ट होते हैं जिससे वह दिन रात में एक बार पैर रखने और उठाने में समर्थ होता है। इसी प्रकार चरण रखते हुए सहस्र योजन पार कर लेने पर वहाँ से छुटकारा पाता है और पाप शुद्धि के लिए उसी के समान दूसरे नर्क में जाता हैं और इसी प्रकार सब नरकों को पार करना पड़ता है।

नरक का वह वर्णन बड़ा विस्तार है और विभिन्न पुराणों में इस प्रकार के वीभत्स विवरणके अध्यायके अध्याय भरे पड़े हैं। तामस नरकमें कड़ाकेकी सर्दी पड़तीहैं और सदैव घोर अंधेरा छाया रहता हैं। वहाँसर्दी से कष्ट पाकर पापी मनुष्य इधरसे उधर दौड़ते हैं और ठंड को मिटाने के लिए परस्पर लिपटते हैं। ठंड की अधिकता से दाँत ऐसे कड़कड़ातेहैं कि वे टूटकर गिर जाते हैं। भूख प्यासभी वहाँ बहुत लगतीहै परउसकी निवृत्ति का कोई साधन नहीं होता। ओलों के साथ बहने वाली भयंकर हवा शरीर की हड्डियों को तोड़ देती है और मज्जा तथा रक्त बाहर

गिरता है। वे भूखे प्राणी उसी को खाकर भूख को मिटाते हैं। इस प्रकार अनेक वर्षों के अन्धकार में पड़े कष्ट भोगा करते हैं।

तीसरे 'निकृन्तन' नामक नरक में बहुत से चक्र लगातार घूमते रहते हैं। यमदूत पापी जीवों को उनके ऊपर चढ़ाकर तेजी से घुमाते हैं और फालसूत्र नामक यन्त्र से उनके प्रत्येक अंग को बार-बार काटते रहते हैं। पर इससे उन पापियों का प्राण नही निकलता वरन् शरीर के सैकड़ों टुकड़े होने पर भी वे फिर जुड़ जाते हैं और उनको पुनः काटे जाने की महाकष्ट कारक प्रक्रिया सहन करनी पड़ती है। चौथे 'अतिष्ठ' नरक में भी वैसे ही कुम्हारों के चक्र और घटी यन्त्र होते हैं। पापियों को उन चक्रों पर चढ़ाकर निरन्तर घुमाया जाता है और कभी विश्राम नहीं लेने दिया जाता जिससे उनको अपार कष्ट होता है। इसी प्रकार अन्य पापियों को रहट के समान एक घटीयन्त्र में बाँधकर नीचे ऊपर घुमाया जाता है, जिससे उनके मुख से रक्त लार गिरती है, आँखों से अश्रु बरसते हैं और वे असह्य कष्ट का अनुभव करते रहते हैं।

पांचवा असिपत्रवन' अत्यन्त भयङ्कर है। जब उसमें पापी मनुष्य गर्मी से व्याकुल होकर हरे भरे पेड़ों की छाया में भागते हैं तो उनके ऊपर पेड़ों के पत्ते जो तलवारोंकी तरह होते है गिर जाते हैं और उनके अङ्गों को छिन्न-भिन कर डालते हैं। उसी समय कुत्ते रूपी यमदूतवहाँ आकर टुकड़े-टुकड़े कर डालते हैं। छटवाँ तप्त कुम्भ' नरक है जिसमें पापियों को खौलते हुए तेल और लोहे के चूर्ण से भरे घड़ों में डालकर घोर कष्ट पहुँचाया जाता है।

इसमें सन्देह नहीं कि नरकों का यह वर्णन हृदय को कँपाने वाला है और उसे सुनकर एक बार घोर पापी व्यक्ति भी सहम जाता है। यहकह सकनातो कठिनहै कि इसविश्वके किसी कोनेमें वास्तवमें कोईऐसास्थानहै यानहींजहाँ उपर्युक्त प्रकारके अनुभव होते हों, परयदि हमइस समस्यापर आध्यत्मिक दृष्टिसे विचार करते हैं तो मालूम पड़ताहै कि क्रोधलोभ अहंकार, मोह कामवासना और मदजो मनुष्यका पतन करनेवालेषड्रिपुकहा गयेहैं वे ही नर्करूपहै और जोव्यक्ति उनके वशीभूत होजाता है वह उप-

युक्त नरकों की सी पड़ीइसी दुनियाँमें भोगता रहता है। क्रोधकी अग्नि रौरव नरकसे कमनहीं होती और कितनेही व्यक्ति उसके पंजेमें पड़कर सारा जीवन घोर अशान्ति और मानसिक जलनमेंही व्यतीतकर देतेहैं। इसी प्रकार जिस व्यक्तिके पीछे लोभका भूतलग जाताहै वह सदा प्रत्येक पदार्थका अभावही अनुभवकरताहै। उसकी तृष्णाकी कभी पूर्तिनहीं होती और इससे उसके उत्साह और आशाओं पर तुषारपात होजाता है और वह 'तुम' नरक के कष्टों को इस पृथ्वी पर ही सहन करता रहता है 'निकृन्तन' कर्कका वर्णनकिसी अहङ्कार ग्रस्त प्राणीके वर्णनसे ही मिलता जुलता है। अहंकारी व्यक्ति अन्य व्यक्तियोंको तुच्छ समझकर बड़े गरूरके साथअपन कीबड़प्पनी तरह-तरह की कल्पनायें खड़ी करता रहता है,पर वेसब वास्तविकता के धरातल पर टुकड़े-टुकड़े हो जाती हैं। इससे उसका हृदय विदीर्ण हो जाता है और वह असह्य पीड़ा अनुभव करताहै।

अप्रतिष्ठ' नरक मोह का परिणाम होता है। सांसारिक पदार्थों के मोह में फँसकर वह एक बार अपने को धन्य और सफल समझने लगता है, पर फिर जब उनका वियोग हो जाता है तो खेद से भरकर आँसू वहाता रहता है जल भरने के रहट की तरह वह बार-वार भरता और खाली होता रहता है और इसके परिणाम स्वरूप उसके हृदय में सदैव हलचल मचती रहती है। 'असिपत्र वन' नरक दूषित कामवासना का रूपक है। दुराचार या व्यभिचार की वासना यद्यपि दूर से बड़ी सुन्दर और मनमोहक जान पड़ती है, पर उसका परिणाम तलवार या छुरीसे आलिंगन करने के समान ही नाशकारी होता है। क्रोधाग्नि के समान कामाग्नि भी बहुत जलाने वाला है। इससे शक्तिका और भी क्षय होता है और मनुष्य का जीवन नष्ट प्रायः हो जाता है। छठा नर्क तप्त कुम्भ कहा गया है जो 'मद' का परिणाम होता है। उसके कारण मनुष्यअपनी छोटी-मोटी सफलताओं या सामान्य वैभव पर बहुत फूलता रहताहै पर जब वह दूसरों को अपनेसे बड़ा-चढ़ा देखता है तो उसकेभीतर ईष्याद्वेष की ऐसी अग्नि प्रज्वलित होती है कि शरीर का समस्त रस-रक्त खोलने लगता है और हृदय में लोहे के हजारों नुकीले टुकड़े चुभने लगते हैं।

मार्कण्डेय पुराण का यह नर्क-वर्णन एक बहुत बड़ा प्रभावशाली रूपक है जिसका आशय यही है कि यदि मनुष्य, को सांसारिक व्यथाओं,पीड़ाओं ज्वालाओं से बचना है तो उसे, काम क्रोध, आदि मानसिक दुष्प्रवृत्तियों से बचकर सदाचार पूर्ण जीवन व्यतीत करना चाहिए। सदाचार और इन्द्रियों का संयम ही स्वर्ग का द्वार है और इसके विपरीत इन्द्रियों का दुरुपयोग, दुराचरण हर प्रकार से कष्टदायक और दुर्गति में ग्रस्त करने वाला है। साथ ही हम भी स्वीकार करते है कि नर्क वर्णन में तथ्य का अंश चाहे कितना भी कम ज्यादा हो: पर सामान्य अशिक्षित जनता पर उसका प्रभाव पड़ा है और करोड़ों व्यक्ति उससे भयभीत हो पाप कर्मों से न्यूनाधिक परिणाम में बचते रहते हैं।

महा मानव के लक्षण—

नरकों के वर्णन के प्रसंग में विपश्चित्त नामक एक राजा का भी कथानक आ गया है; जो थोड़ी देर के लिए नरक दर्शन के लिए लाया गया था और जिसने उस अवस्था में भी परोपकार धर्मको नहीं छोड़ा। अगणित नारकीय जीवों का उसने उसी समय उद्धार किया। उसका सम्पर्क प्राप्त होने से समस्त नर्कवासी जीवों को कुछ सुख मिलने लगा, यह देखकर उसने स्वर्ग-सुखको छोड़कर वहीं रहने का आग्रह किया और कहा कि उसने जो कुछ पुण्य किया है उसके बदले में इन पापियों का उद्धार कर दिया जाय। वह वहाँ से तभी हटा जब वहाँ पर उपस्थित नरक निवासियों को छुटकारा मिल गया। राजा की इस महामानवता के फलस्वरूप भगवान विष्णु का विमान उसे लेने आया और उसे स्वर्ग की सर्वोच्च स्थिति प्राप्त हो गई।

ऐसा पुण्यवान् राजा भी किस कारण नर्क दर्शन के लिये लायागया इसकी कथाभी बड़ी शिक्षाप्रद है।यमदूत ने उसे बतायाकि विदर्भ देशकी राजकुमारी आपकी पत्नीथी।जबवह ऋतुमती हुई तो आप उसकी उपेक्षाकरके केकय देशकी रानीके साथ विहार करते रहे। ऋतुकाल के समय तो स्त्री-पुरुषका समागमएक प्राकृतिक नियमहैजिससे प्रजाकी उत्पत्ति होतीहै और सृष्टि-क्रम स्थिर रहता हैं। इस दृष्टिसे उसे दूषित नहीं बतलाया गया है।

पर अन्य समयमें स्त्रीका उपभोग कामसक्तताका लक्षणहै। प्राकृतिक नियम का उल्लंघनकरके विषयासक्तताका आचरण धर्मकी दृष्टिसे एक पाप कर्महीहै औरइसी फलस्वरूप आपको कुछ क्षणोंके लिए नर्क प्रदेश में आना पड़ा। शास्त्रमेंभी कहा गयाहैकिजैसे हवनके समयअग्नि घृताहुति की प्रतीक्षाकरती है इसी प्रकार ऋतुकालमें स्वयं प्रजाप्रति ऋतुआधान की प्रतीक्षा करता है। दूसरी शिक्षा इस आख्यान से यह भी प्राप्त होती है कि त्याग सबसे बड़ा पुण्य हैंऔर इसके द्वारा सामान्य पुण्य भी अनेक गुणा बढ़ जाता है।

पतिव्रत धर्म की लोकोत्तर महिमा–

पतिव्रत का आदर्श भारतवर्ष की एक ऐसी विशेषता है जिसका अस्तित्व संसार के अन्य किसी स्थान में नहीं पाया जाता। भारतीय धर्मकथा-लेखकों ने पति-पत्नी के सम्बन्ध को अमिट बना दिया है और उसकी शृंखला को जन्मान्तर तक विस्तृतकर दिया है। इस सम्बन्ध में जो आख्यान विभिन्न स्थानों में पाये जाते हैं उनमें अतिशयोक्ति से काम लिया गया है पर उसका उद्देश्य यही है कि लोगों के हृदय में यह तथ्य भली-भाँति जम जाय। मार्कण्डेय पुराण के सोलहवें अध्याय में एक पतिव्रता द्वारा सूर्य का उदय होना रोक देने की कथा ऐसी ही है। ब्राह्मणी का पति कोढ़ी होने पर भी वेश्या गमन के लिए लालायित हुआ, पर मार्ग में उसे मार्ण्कडेय ऋषिद्वारा सूर्योदय होते ही मरने का शाप दे दिया दे दिया गया। इस पर पतिव्रताने कहाकि 'अब सूर्य का उदय ही नहीं होगा?' ऐसा होने पर सब प्रकार के यज्ञ, सध्या, श्राद्ध आदि भी रुक गये। तब देवताओं की प्रार्थना पर अत्रि ऋषि की पतिव्रता पत्नी उस ब्राह्मणी के पास गई और उसे राजी करके सूर्योदय कराया और उसके पति की मृत्यु हो जाने पर उसे अपने पतिव्रत के बल से पुनर्जीवित किया। इस आख्यान का उद्देश्य पतिव्रत धर्मकी अलौकिक शक्ति का प्रभाव सामान्य जनों के हृदय में स्थापित करना ही है, जो समाज के हित की दृष्टि से एक कल्याणकारी प्रवृत्ति ही मानी जायेगी। इस घटना के परिणाम स्वरूप ब्रह्मा, विष्णु और शिव की शक्तियों ने चन्द्रमा, दत्तात्रेय और दुर्वासा के रूप में अनुसूया के पुत्र होकर जन्म लिया है।

मदालसा का उपाख्यान

मदालसा का उपाख्यान कई दृष्टियों से धार्मिक जगत् में प्रसिद्ध है और वह भारतीय नारियों की आध्ययात्मिक ज्ञान-प्रियता तथा वैराग्य-भावना की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। मदालसा राजकुमार ऋतुध्वज की पत्नी थी जो उनको पातालकेतु नामक दैत्य का संहार करते हुए मिली थी कुछ समय केपश्चात् पाताल केतु के भाईने ऋतुध्वजके साथछल कर के माद लसा को यह असत्य समाचार सुनाया कि 'ऋतुध्वज तपस्वियों की रक्षा करते हुए किसी दुष्ट दैत्यके हाथसे मारे गये इसको सुनकर मदालसा ने शोक मग्न होकर उसी समय प्राण त्याग दिए ऋतुध्वज को वापस आने पर इस शोक जनक घटना का हाल विदित हुआ और उस ने कहा—यह अवला धन्य थी जिसने मेरी मृत्यु की बात सुनते ही प्राण त्याग दिये। मैं बड़ा कठोर प्राणी हूँ। जो उसके बिना जीवित हूँ। पर यदि मैं जीवन दे डालूँ तो उसका क्या उपकार होगा ? इसलिए मैं यह प्रतिज्ञा करता हूँ कि यदि मदालसा ने मेरे लिए प्राण त्याग दिया तो मैं भी जीवन भर अन्य स्त्री को अपनी सहचारिणी नहीं बनाऊँगा और सदैव उसकी स्मृति को ताजा रखकर परोपकार मय कार्यों में ही लगा रहूँगा।"

कुछ समय पश्चात् ऋतुध्वज की दो नाग कुमारों के मित्रता हो गई वे ब्राह्मण के वेश में उसके पास आते थे।उन्होंने ऋतुध्वजकी मनोव्यथा को जानकर एक दिन उसका जिक्र अपने पिता अश्वतर से किया और कहा कि हमको कोई ऐसा उपाय नहीं सूझता कि जिससे उसका कुछ उपकार किया जा सके। जो मर चुका उसे सिवाय भगवान के और कौन फिर से जीवित कर सकता है। पिता ने कर्म की महिमा बतलाते हुए कहा द्यु्लोक और पृथ्वी में ऐसा कोई, असम्भव कार्य नहीं है जिसे मन और इन्द्रियों के समय से युक्त मनुष्य सिद्ध न कर सके। कर्म सर्व प्रधान है। चलती हुई चींटी अनेक योजन तक चली जाती है, पर बिना चले शीघ्रगामी गरुड़ भी जहाँ का तहाँ पड़ा रहता है।"

अपने कथन को सत्य सिद्ध करने के लिए अवश्वतर ने शिवजी की तपस्या करके मदालसा को जीवित करा दिया और उसे ऋतुध्वज को प्रदान करके उसके जीवन को पुन: सरस और सुखी बना दिया। इस प्रकार इन्होंने यह भी दिखला दिया कि मित्रता अर्थ केवल ऊपरी शिष्टाचार ही नहीं हैं वरन् मनुष्य को मित्र का सच्चा हित साधन करने के लिए कठिन से कठिन कार्य को अंगीकृत करने में संकोच नहीं करना चाहिए।

जब मदालसा के प्रथम पुत्र उत्पन्न हुआ और राजा ऋतुध्वज ने उसका विक्रांत नाम रखा तो वह बहुत हँसने लगा। राजा की कल्पना थी कि मेरा पुत्र समस्त शत्रुओं को नष्ट करने वाला महावीर योद्धा बनेगा और बड़े-बड़े वीरता के काम करके वंश के नामको बढ़ायेगा पर मदालसा उसको अपना दूध पिलाने के साथ शैशवावस्था से ही लोरियों के रूप में अध्यात्म ज्ञान की शिक्षा देने लगी। नह कहती थी—

"हे तात ! तू तो शुद्ध आत्मा है। तेरा कोई नाम नहीं है। यह कल्पित नाम तो तुझे अभी मिला है। यह शरीर ही पांच भूतों का बना है। न बह तेरा है, न तू इसका है। फिर तू किसलिए रोता है ?"

"जैसे इस जगत में अत्यन्त दुर्बल भूत अन्य भूतों के सहयोग से वृद्धि को प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार अन्न और जल आदि भौतिक पदार्थों के पाने से पुरुष के पंचभौतिक देह की पुष्टि होती है। इससे तुझ शुद्ध आत्मा की न तो वृद्धि होती है और न हानि ही होती है।"

"तू अपने इस देह रूपी चोले केजीर्ण शीर्ण होने पर मोह न करना शुभाशुभ कर्मोंके अनुसार यह देह प्राप्त हुआ है। तेरा यह चोला मांस मेद आदि से बँधा हुआ है, पर तू इससे सर्वथा पृथक् है।"

"कोई जीव पिता के रूप में प्रसिद्ध है, कोई पुत्र कहलाता है किसी को माता पिता और किसी को प्रिय पत्नी कहते हैं। कोई 'यह मेरा है' कहकर अपनाया जाता है और कोई 'यह मेरा नहीं है' इस भाव से पराया माना जाता है। इस प्रकार ये भूत समुदाय के ही नाम रूप है ऐसा तुझे मानना चाहिए"।

"यद्यपि समस्त भोग दुःख रूप हैं तथापि मूढ़चित, मानव उन्हें दुःख दूर करने वाला सुख की प्राप्ति कराने वाला समझ लेता है। पर जो ज्ञानी है और जिनका चित्त मोह से आच्छन्न नहीं हुआ है वे उन भोगजनित सुखों को भी दुःख ही मानते हैं"

"स्त्रियों की हँसी क्या है हड्डियों दाँतों का प्रदर्शन हैं। जिसे हम अत्यन्त सुन्दर नेत्र कहते हैं वे मज्जा की कलुषता हैं। कुछ आदि अङ्ग मांस की ग्रन्थियाँ है। इसलिए पुरुष जिस स्त्री पर मोहके भाव से अनुराग रखता है क्या वह एक प्रकार से हाड़-माँस की ढेरी ही नहीं हैं?

"पृथ्वी पर सवारी चलती है, सवारी पर यह शरीर बैठा रहता है। और इस शरीर के भीतर भी एक दूसरा पुरुष बैठा हुआ है। पर हम सवारी और पृथ्वी पर वैसी ममता नहीं रखते जैसी की अपनी इस देह में रखते हैं। यही मूर्खता है।"

इसी प्रकार के सत् उपदेश देकर मदालसा ने अपने प्रथम तीन पुत्रों को अध्यात्म मार्ग का पथिक और साँसारिक प्रपचसे विरागी बना दिया तब राजा ने उससे कहा कि अब एक पुत्र को राजधर्म तथा गृहस्थधर्मकी शिक्षा देनीचाहिए जिससे वह हमारे उत्तराधिकारी को ग्रहण करके राज्य संचालन कर सके। राजा के आग्रह को स्वीकार करके मदालसा चौथे पुत्र अलर्क को लोरियाँ सुनाते हुए इस प्रकार उपदेश देने लगी।

बेटा ! तू धन्य है जो शत्रु रहित होकर चिरकाल तक पृथ्वी का पालन करता रहेगा पृथ्वी के पालन से तुझे सुख की प्राप्ति हो और धर्म के फलस्वरूप तुझे अमरत्व मिले पर्वों पर सद् ब्राह्मण को भोजन से तृप्त करना, बन्धुबांधवों की इच्छापूर्ण करना, अपने हृदय में दूसरों की भलाई का ध्यान रखना और पराई स्त्रियों की ओर कभी मनको न जाने देना अपने मन में सदा भगवान का चिन्तन करना, ध्यान द्वारा अन्तःकरण के कामक्रोध आदि छहों शत्रुओं को जीतना ज्ञान के द्वारा माया का निवारण करना और जगत की अनित्यता का विचार करते रहना। धन की आय के लिये राजाओं पर विजय प्राप्त करना, यश के लिए धन का सद्व्यय करना, परायी निन्दा सुनने से विरत रहना और विपत्तियों में पड़े हुए व्यक्तियों का उद्धार करना

'बाल्यावस्था में तू भाई बन्धुओं को आनन्द देना, कुमारावस्था में आज्ञा पालन द्वारा गुरुजनों को सन्तुष्ट रखना, युवावस्था में गृहस्थ, धर्म का पालन करके कुल को सुशोभित करने वाली पत्नी को प्रसन्न करना और वृद्धावस्था में वन के भीतर निवास करके वहाँ रहने वाले त्यागी तपस्वियों की सहायता करना।

"हे तात ! राज्य करते हुए मित्रों को सुख देना, सज्जनों की रक्षा करते हुए लोकोपयोगी यज्ञों और उत्सवों की परम्परा को स्थिर रखना और देश की रक्षा के लिए आवश्यकता हो तो दुष्ट, शत्रुओं का सामना करके प्राण भी निछावर कर देना।"

राजधर्म और राजनीति का आदर्श—

माता द्वारा खेल खेलते हुए ही इस प्रकार के जीवनादर्श के उपदेश प्राप्त करता हुआ अलर्क जब कुछ बड़ा हो गया और उसका उपनयन संस्कार हुआ तो उसने माता को प्रणाम करके कहा कि लोक और परलोक के सुख तथा जीवन की सफलता प्राप्त करने के लिए क्या करना चाहिए इसका मेरे प्रति उपदेश करिये।

मदालसा ने कहा पुत्र! राजा का सर्वप्रथम कर्तव्य धर्मानुकूल आचरण करते हुए प्रजा की रक्षा और उसे संतुष्ट रखना है राजा को उचित है कि वह सातों व्यसन-कटु भाषण, कठोर दंड, धन का अपव्यय, मदिरापान, काम शक्ति आखेट में व्यर्थ समय गँवाना और जुआ खेलने से सदैव बचकर रहे क्योंकि ये मूलोच्छेद करने वाले हैं। अपनी गुप्त मन्त्रणा को कभी प्रकट नहीं होने देना चाहिये, क्योंकि शत्रु सदैव ऐसे मौके की ताक में रहते हैं और गुप्त भेदों का पता लगाकर आक्रमण करके राज्य का नाश करने को तत्पर हो जाते हैं। राजा को अपना गुप्तचर विभाग बहुत उत्तम रूप से सङ्गठित करके रखना चाहिए जिससे मालूम पड़ता रहे कि शत्रु उसके राज्य में किस प्रकार की भेदनीति या तोड़फोड़ की योजना कर रहे हैं और अपने साथियों में से कौन सच्चा है और कौन शत्रु के बहकावे में आ गया है

सबके साथ प्रेम युक्त व्यवहार करते हुए भी राजा को अपने मित्रों तथा सगे सम्बन्धियों पर भी आंख बन्द करके विश्वास नहीं करना चाहिये, पर आवश्यकता पड़ने पर शत्रु पर भी विश्वास कर लेना चाहिए। उसे युद्ध तथा शांति के अवसरों का पूरा ज्ञान रखना चाहिए। संधि (शत्रु से मेल रखना) विग्रह (युद्ध छेड़ना) यान (आक्रमण करना) आसन (अवसर की प्रतीक्षा में रहना) द्वैधीभाव (दुरंगी नीति से काम लेना) समाश्रय (किसी बलवान् राजा की शरण लेना इन) छः उपायों का राजा को पूरा ध्यान रखना चाहिए। फिर मंत्रियों को जीते, फिर कुटुम्बीजनों तथा सेवकों के हृदय पर अधिकार करे, फिर समस्त प्रजा को अपना अनुरक्त बनाये और तब शत्रुओं के साथ विरोध करे। जो इन सबको जीते बिना ही शत्रुओं से विरोध कर लेता है वह प्रायः असफलता का ही मुख देखता है और अपनी हानि कर लेता है।

काम, क्रोध, लोभ, मद मान और हर्षोन्मत्तता ये मनुष्यों के लिए पतन कराने वाले दोष हैं। राजा तो इनके वशीभूत होकर नष्ट हो जाता है। राजा को कौआ, कोयल, भौंरा, हिरन, सांप हंस, मुर्गा और लोहे के व्यवहार से भी शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। जिस प्रकार कौआ सदैव आलस्य रहित रहता है, कोयल दूसरों से अपना काम निकालती है, भौंरा सब से रस लाभ लेता रहता है, हंस नीर क्षीर विवेक रखता है, मुर्गा ब्रह्म मुहूर्त में ही जागकर कर्मरत हो जाता है तथा लोहा सबके लिए अभेद्य और तीक्ष्ण रहता है, वैसा ही आचरण राजा को रखना चाहिए। राजा चींटी की तरह उचित समय पर समस्त आवश्यक, पदार्थों का संग्रह करे। उसे जानना चाहिए कि जिस प्रकार एक छोटी सी आग की चिन्गारी बड़े-बड़े वनों को जला डालने की शक्ति रखती है, इसी प्रकार एक छोटा-सा शत्रु अवसर आ जाने पर बहुत अधिक हानिकर सकता है। जिस प्रकार सेमल का छोटा सा बीज धीरे-धीरे एक बहुत विशाल पेड़ के रूप में परिणत हो जाता है उसी प्रकार कोई सामान्य शत्रु भी बढ़ते-बढ़ते अत्यन्त प्रवल हो सकता है। इसलिए उसे आरम्भ में ही उखाड़ फेंकना चाहिए।

"राजा को सब देवताओं का अंश कहा गया है और उसे इन्द्रवायु सूर्य, चन्द्र एवं यमइन पांचों देवोंकी तरहपृथ्वीका पालन करना चाहिए, जैसे इन्द्र चार महीनों तक वर्षा करता है वैसे ही राजाकोदान दक्षिणा उपहार द्वाराप्रजा को प्रसन्नकरना चाहिए।जैसे सूर्य आठ मास तकसूक्ष्म रूपसे जल सोखता रहताहै वैसेही राजाओंको ऐसे ढङ्गसे करवसूल करते रहना चाहिए जिससे किसीको कष्टका अनुमव न हो। जिस प्रकारयम-राज समयानुसार भले-बुरे सबको अपने नियंत्रण में रखता है औरसदैव उचित न्यायही करता है। वैसे ही राजा कोसज्जनऔरदुष्टसबको स्ववश में रखना चाहिए 'जैसे वायु अनजानमें ही सर्वत्र पहुँचता रहता है उसी प्रकार राजा को गुप्तचरों द्वारा मित्र-शत्र सबका पूरा भेद मालूम करते रहना चाहिए। जैसे पूर्ण चन्द्रमाको देखकर सबमनुष्य प्रसन्न होतेहैं वैसे ही राजा को अपने मधुर व्यवहार द्वारा सबको सुखी और प्रसन्न रखना चाहिए। जो कुमागगामी और स्वधर्म से विचलित मनुष्य को उनके धर्म में स्थापित कर देता है वही सच्चा राजा है। भूतों प्राणियोंके पालन में ही राजधर्म की सफलता मानी जाती है।"

गृहस्थ धर्म की विशेषता—

'मार्कण्डेय पुराण से गृहस्थ को बहुत ऊँचा स्थान दिया गया और स्पष्टकहा है कि पितृगण ऋषिगण, देवगण भूतगणनागण कृमि कीट,पतंग गण, पक्षिगणऔर असुरगण—येसमस्त ही गृहस्थाश्रम का अवलम्वन कर जीवनयात्रा निर्वाह करते हैं। 'गृहस्थ हमको अन्न देगा या नहीं 'यह चिन्ता करके उसी के मुख की तरफ देखते रहते हैं।

आगे चलकर गृहस्थ की उपमा एक गायसे दी है कि ऋग्वेदजिसकी पीठ यजुर्वेद मध्य, सामवेद मुख और ग्रीवा, इष्टापूत उसका सींग, साधु-सूक्त रोम शान्ति और पुष्टि कर्म उसका मलमूत्र एवं वर्ण और आश्रम ही उस धेनु की प्रतिष्ठा है। इस धेनु का कभी क्षय नहीं होता स्वाहा' स्वधाकार, वषट्कार और हन्तकार इस धेनु के थन हैं। इनमेंसे देवगण स्वहाकार,पितृगण और मनुष्यगण हन्तकार स्तनका पान करते रहते हैं। जो गृहस्थ इस प्रकार देवता आदि को तृप्त नहीं करता वह महापापी होता है। इस प्रसंग में एक महत्वपूर्ण श्लोक यह है—

श्रीमतं ज्ञातिमासाद्य यो ज्ञातिरवसीदति ।
सीदताय तत्कृतं चैव तत्तापं स समश्नुते ।

"किसी निर्धन और असहाय व्यक्ति के क्षुधार्त होकर प्रार्थना करने पर उसको भी आहार दे । सम्पत्ति होने पर समर्थ पुरुष को उसे भोजन कराना चाहिए । जो जाति वाला श्रीमान व्यक्ति के समीप होते हुए भी दु:खी रहता है और इस कारण कोई पाप-कर्म करता है तो श्रीमान को भी पाप के अंश का भागी होना पड़ता है ।"

अगर हम वर्तमान समयकी विचारधारा और भाषा के अनुसार इस विचारको प्रकट करें तो इसे भारतवर्ष का धार्मिक साम्यवाद कह सकते हैं । अपने आस-पास तथा परिचित समाज में कोई व्यक्ति भूखा नङ्गा अभाव ग्रस्त न रहे इसका ध्यान रखना सम्पत्तिशालीव्यक्तियोंकाकर्तव्य है । परिस्थिति वश सम्पत्ति कहीं भी कम या ज्यादाआती, जातीरहेपर वास्तव में वह समस्त समाज की है और उसका उपयोग उसके हित की दृष्टि से ही किया जाना चाहिए । जो व्यक्ति किसी उपाय अथवासंयोग से सम्पत्ति को पाकर उसे निजी समझकर ताले में बन्द रखने की चेष्टा करता है, उसके स्वाभाविक प्रवाह को रोकता है वह बहुत बड़ा सामाजिक पाप करता है । इस प्रकार अन्य लोगों को जीवन साधनों का अभाव होने से वे जो कुछ चोरी, जमा, ठगी, लूटमार या अन्य पापकर्म करते हैं उसके उत्तरदायी वास्तव में वे व्यक्ति ही होते हैं जो किसी प्रकार सम्पत्ति के प्रवाह को अवरुद्ध करते हैं ।

आज हम समाज में इसी दूषित प्रणालीको जोरों से फैलता देखरहे हैं । आज चारोंतरफ यही दृश्यदिखलाई पड़ रहा हैकि 'धनी दिनपरदिन अधिक धनवान बनजाता है और गरीब निरन्तर अधिकगरीब होताजाता है ।' मानव धर्मकी निगाहसे यह प्रवृत्ति अत्यन्त जघन्यऔर कुफल उत्पन्न करने वाली है । इसीके परिणामस्वरूप समाजमें तरह-तरहके विग्रह-फूट अनेकता और अनुचित विरोध भावों की उत्पत्ति होतीहै और क्लेश तथा अशान्तिकी वृद्धि होतीहै।इसलिए शास्त्रोंमें कदम-कदमपर दानकी प्रेरणा दी है । उसका आशय यहीहै कि मनुष्यकोअपनीआवश्यकतासे अधिकजो

कुछ मिल जाय उसे दान, धर्म, यज्ञ, अतिथि सत्कार आदि के रूप में स्वेच्छा से समाज को ही लौटा देना चाहिए। इसी भाव को कई सौ वर्ष पहले महात्मा कबीर ने एक छोटे दोहे में प्रकट किया था।

पानी बाढ़्यो नाव में, घर में बाढ़्यो दाम।
दोऊ हाथ उलीचिये, यही सयानो काम ।।

जिस प्रकार नाव के भीतर पानी जमा हो जाने से वह डूबने लगती है उसी प्रकार एक व्यक्ति के पास आवश्यकता से अधिक धन का भण्डार जमा हो जाने से अनेक प्रकार के दोष दुर्गुण उत्पन्न होने लगते हैं। उससे एक तरफ व्यक्ति में अहंकार, लोभ, निष्ठुरता, दुश्चरित्रता की प्रवृत्तियां उत्पन्न होती हैं और दूसरी तरफ अभाव ग्रस्तता दीनता, हीन आचरण आदि बढ़ने लगते हैं। इस दूषित परिस्थिति को रोकने के लिये भारतीय शास्त्रकारों ने स्वेच्छा से त्याग का उपदेश दिया था और जब तक समाज उचित रूप से उसका पालन करता रहा तब तक यहां शांति और सामाजिक एकता कायम भी रही। आज अनेक देशों के शासक या सत्ताधारी दल साम्यवाद के नाम से इसी कार्य को करने की चेष्टा कर रहे हैं, भारतीय संविधान का अन्तिम लक्ष्य भी 'समाजवाद' की स्थापना बतलाया गया है, पर व्यक्तियों की स्वार्थपरता और लोभ की भावनाओं के रहते हुए इन प्रयत्नों का परिणाम बहुत कम दिखलाई पड़ रहा है। मार्कण्डेय पुराण लेखक ने इस सत्य को स्पष्ट शब्दों में प्रकट करके निःसंदेह समाज-निर्माण के एक बहुत बड़े सिद्धांत पर प्रकाश डाला है।

अनासक्त भाव की श्रेष्ठता—

मदालसा उपाख्यान के अन्त में मनुष्यों के व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन के इन दोषों को मिटाने का एक सीधा उपाय अनासक्त भावना को उत्पन्न करना बताया है क्योंकि सब प्रकार के सम्पत्ति और चरित्र सम्बन्ध दोष प्रायः तभी बढ़ते हैं जब मनुष्यों अपने आत्म स्वरूप को भूलकर इस पंच भौतिक जगत् को सत्य और अपना अन्तिम लक्ष्य समझ बैठता है। इस उपदेश को स्पष्ट रूप से समझाने के लिये पुराण कारने मदालसा के पुत्र अलर्क की कथा को आगे

बढ़ाते हुए कहा है कि मदालसा के उपदेशानुसार धर्मराज्य करते हुएभी वह अन्तिम अवस्था में सांसरिक माया मोह में विशेष फस गया और आत्मोत्थान के वास्तविक लक्ष्य को भूल ही गया। यह देखकर उसके बड़े भाई बनवासी सुबाहु को चिन्ता हुई और उसने एक युक्ति की दृष्टि से काशीराज के पास पहुँच कर उसे अलर्क पर आक्रमण करने कीप्रेरणा दी। इस आक्रमण का सामना न कर सकने के कारण अलर्क की मोह निद्रा टूटी उसने माता का अन्तिम चिन्ह स्वरूप अँगूठी के भीतर लिखा हुआ यह उपदेश पढ़ा—

असङ्गः सर्वात्मना त्याज्यः सचेत् त्यक्तुं न शक्यते।
स सद्भि सह कर्त्तव्यः सतां सङ्गो हि भैषजम् ॥

"मनुष्यों को आसक्ति का पूर्णतया त्याग करना चाहिए, पर यदि वैसा सम्भव न हो तो सत्पुरुषों की संगति ही करनी चाहिए, क्योंकि विषयासक्ति की औषधि सत्संग ही है।"

इस उपदेश से अलर्क को जो मार्ग दर्शन हुआ तदनुसार वह सत्संग केउद्देश्यसे महात्मा दत्तात्रेयके पास जापहुँचा और उनकोअपनीविपत्ति का पूरा वर्णन सुनाकर दु:ख दूर करनेकी प्रार्थनाकी। दत्तात्रेयने उसकी बुद्धि पर पड़े पर्देको देखलिया ओर सबसे प्रथम प्रश्न यही कियाकि 'तुम अपने मनमें अच्छी तरह सोच विचार करमुझे यह बतलाओ कि तुमको दु:ख किस प्रकार का है और वह क्यों उत्पन्न हुआ है? तुम अपने वास्तविक स्वरूप पर विचार करो, सांसारिक वस्तुओंसे उसके सम्बन्धकानिर्णय करो और तब बतलाओ कि किस बात ने तुमको क्यों दु:खी किया है?" इन शब्दों को सुनकर जबअलर्क राज्यपर आक्रमण सम्बन्धी समस्तघटना पर आध्यात्मिक दृष्टिसे विचार करने लगे तो उनका संशय बहुत शीघ्र दूर होगया और वे हंसते हुए कहने लगे मैं वास्तब में बड़े भ्रम में पड़ा था कि इन पच तत्व को ही अपनामुख्य आधार समझ कर उनके लिए शोक कर रहा था। अगर तात्विक दृष्टि से विचार किया तो मैं न तो भूमि हूं, न जल हूं, न अग्निहूं न वायु हूं और न आकाश ही हूं। इन सब

पदार्थों में न्यूनता अथवा अधिकता होने से ही हम शोक और हर्ष करते हैं आत्मा की दृष्टि से यह निरर्थक हैं। यदि सुख दुःख का कारण मन और बुद्धि को मानें तो आत्मा इनसे भी अलग है। इसलिए वास्तव में न मेरा कोई राज्य है न कोषहै, न कोई मेरा शत्रु है। जैसे विभिन्नपात्रोंमें भरे हुए जलमें आकाश का प्रतिबिम्ब अलग-अलग जान पड़ता है, पर वास्तव में वह एक ही होता है उसी प्रकार मैं गलती से काशीराज तथा बड़े भाई सुबाहु को अपने से पृथक् समझ रहाहूँ। ये लोग मेरे दुःख का कारण नहीं, वास्तव में मेरे दुःख का कारण मेरी ममता है। यदि ममता की भावना को त्यागकर विचार करे तो कहीं दुःख नहीं है। जबबिल्ली किसी गौरैया या चुहियाको पकड़ने जाती है, तो हमको कुछभी दुःखनहीं होता, औरजब वह घरमें पाले तोता मुर्गे को खा डालती है तो हम शोक करने लगते हैं इसलिए आत्मा की दृष्टि से हमको कोई दुःख या सुख नहीं होता। किसी एक भौतिक पदार्थ द्वारा दूसरे भौतिक पदार्थको उत्पीडित देखकर ही हम झूंठमूंठ सुखदुःख की कल्पना कर लेते हैं।"

दत्तात्रेय जी ने राजा अलकं की भ्रांति को इस प्रकार दूर करके उसे दुःख से मुक्त होने का मार्ग बतलाया कि तुम्हारा।सोचना युक्ति युक्त है। वास्तव में सब प्रकार के दुःखों का मूल यह मेरा-मेरा' ही है। जब हम इस ममता को त्याग देते हैं तो दुःख की जड़ स्वयं ही कट जाती है। यह संसार कर्मो का एक महावृक्ष है। उसका अंकुर अहंभावमें से फूटता हैं। ममता ही उसका भारी तना है। घर बार का मोह उसका शाखायें हैं, स्त्री पुत्र,धन,सम्पत्ति आदि पत्ते हैं। वह वृक्ष निरन्तरबढ़ता रहता है और तब उस पर पाप-पुण्य के फूल और सुख:दुख फल लगते हैं तो अज्ञानी लोगउसे लालसा कामनाओं द्वारा सींचते रहते हैं। यह वृक्ष बन्धन-मुक्ति के मार्ग को रोककर खड़ारहता है। जो लोग संसार रूपी वन में भ्रमण करते हुए उसका आश्रय लेते हैं उन्हें सच्चासुख कहाँ मिल सकता है? इसलिए आवश्यकता है कि अपने ज्ञान रूपी कुठारको सत्सग रूपी सान धरने के पत्थर पर तेज करके इस ममता रूपी वृक्षको

काट डाला जाय। तभी हम आत्म-ज्ञान या ब्रह्म-ज्ञान के शाँतिदायक उद्यान में पहुँच सकते हैं जहाँ धूल और काटों का भय नही है।'

इसके पश्चात् दत्तात्रेय ने अलर्क को योग साधन का पूरा विधि-विधान उसके बीच में आने वाले उपसर्ग और प्रलोभनों की चेतावनीदी और योगी के आचार व्यवहार का उपदेश दिया। अन्त में ओंकार महिमा को समझाते हुए कहाकि उसकी 'अ' 'उ' 'म' तीन मात्रायेंसत्व, रज, तम तीनों गुणों अथवा ब्रह्मा, विष्णु, महेश तीन ईश्वरीय शक्तियों की प्रतीक है और चौथी ऊर्ध्व मात्रा परब्रह्म की ओर संकेत करतीहै। जो साधन ओंकार के इस स्वरूप को हृदयंगम करके उसका ध्यान करेगा वह केवल इसी साधन से मुक्ति का अधिकारी बन सकता है।

दत्तात्रेय के आत्मोपदेश से अलर्क कृतार्थ हो गया। उसका शोक मोह सर्वथा लोप होगया और उसने स्वयं काशीराज तथा सुबाहुके पास जाकर प्रसन्नतापूर्वक समस्त राज्य अर्पण कर दिया। उसकी इस निस्पृहता को देखकर वे भी बड़े प्रभावित हुए और सुबाहु ने अपना अभीष्ट लक्ष्य पूरा हुआ देखकर उसका राज्य उसी को लौटा दिया। पर अब अलर्कको सच्चा आत्मज्ञान हो चुका था और आत्मा के शाश्वत रूपको अनुभव कर चुका था अत उसी समय पुत्र को राज्य भार देकर वनवास के लिए चला गया।

सृष्टि रचना और उसका विकास–

यहाँ तक मदालसा-उपाख्यान के रूप में मानव धर्म तथा अध्यात्म ज्ञान की चर्चा की गई जिसका मनन करने से मनुष्य को लौकिक और पारलौकिक जीवन की सफलता का मार्ग विदित हो जाता है इसके पश्चात् पुराण का मूल विषय "सर्ग प्रतिसर्ग, वंश मन्वन्तर, राज्यवंश" आरम्भ होता हैं। ये विषय थोड़े बहुत अन्तर के साथ प्रत्येक पुराण में पाये जाते हैं और इसे हम पौराणिक 'सृष्टि विद्या' कह सकते हैं। जिस प्रकार वेदोंमें एक अक्षर-तत्व सेसत्-रज तम तीनों गुणोंकी उत्पत्तिबतला

कर उनसे समस्त सृष्टिका विकास और विस्तार बतलाया है, उसीप्रकार पुराणोंमें एक निराकर ब्रह्मसे ब्रह्मा, विष्णु, महेशकी तीन सृजन, पालन तथा सहार करनेवाली शक्तियों का उद्भव बतलाकर देव, ऋषि,पितर एवं भूतगणों के वंशों की उत्पत्ति का वर्णन किया है। वास्तवमें वेदऔर पुराणों के वर्णनमें कोई सिद्धान्त भेद नहीं है, वरन् पुराणकारोंने वेदों के सूक्ष्म और शुष्क विषय को रूपकों और दृष्टान्तों की शैली में विस्तृत व्याख्या करके उसे साधारण बुद्धिके लोगों के लिए भी बोधगम्य बनाने का प्रयत्न किया है। इससृष्टि-रचना क्रम का सारांश इन शब्दोंमें दिया जा सकता है।

इस भौतिक जगत् को जो मूल कारण है उसे 'प्रधान' कहते है। उसी को महर्षियोंने अव्यक्त सूक्ष्म, नित्य अथवा सद्सत्स्वरूप प्रकृतिकहा हैं। सृष्टिके आदि कालमें केवल एक ब्रह्मही था जो अजन्मा अविनाशी, अजर, अपरिमेय और आधार-निरपेक्ष हैं वह गन्ध, रूप,रस, स्पर्शऔर शब्दसे रहित है और अनादि तथा अनन्त है। वही सम्पूर्ण जगत की 'योनि' और तीनों गुणों का कारण हैं। यह ज्ञान विज्ञानसे अगम्य है। सृष्टिका समय आने पर वही गुणों की साम्यावस्था रूप प्रकृतिको क्षुब्ध करता है जिसके फलस्वरूप महत्वत्व का प्राकट्य होता है। महत्वत्व से वैकारिक, तैजस, भूतादि अर्थात् सात्विक, राजसऔरतामस इस त्रिविध अहँकार का आविर्भाव होता है। तामस अहंकार से शब्द स्पर्श, रूप, रसऔर गन्ध इन पांच तन्मात्राओं का उद्भव होता हैं और इन तन्मा-त्राओं से क्रमश: आकाश वायु, तेज जल और पृथ्वी तत्वका आविर्भाव होता है। राजस अहंकार से श्रोत्र, त्वक् चक्षु, रसना और घ्राण इन पाँच ज्ञानेन्द्रियों तथा वाक्, पाणि, पाद वायु और उपस्थ इनपाँच कर्मे-न्द्रियों की उत्पत्ति होती है। सात्विक अहंकार से इन दसों इन्द्रियों के अधिष्ठातृ देवता तथा ग्यारहवें मनकी उत्पत्ति होती है। फिर महत्त्वत्व से पृथ्वी तत्व पर्यन्त सबतत्व मिलकर पुरुष और प्रकृतिके सम्बन्ध से एक अण्ड उत्पन्न करते हैं। यह अण्ड धीरे-धीरे बढ़ता है और साथ ही उसके भौतिक प्रतिष्टित 'ब्रह्म,नामसे प्रसिद्धक्षेत्रज्ञ पुरुषभी वृद्धिको प्राप्त

होता है आवश्यक वृद्धि और विकास हो जाने पर प्रथम शरीरी या साकार ब्रह्मा प्राकट्य होता है और फिर वही ब्रह्मा उस अखण्ड में समस्त सचराचर जगत् की रचना करते हैं।" यह बात मार्कण्डेयपुराण में बहुत स्पष्ट शब्दों में कही गयी हैं।

स वै शरीरी प्रथमः स वै पुरुष उच्यते।
आदि कर्ता च भूतानां ब्रह्माग्रे समवर्तत।
तेन सर्वमिदं व्याप्तं त्रैलोक्यं सचराचरम्।

पर यह 'ब्रह्मा' कोई ब्राह्म शक्ति या व्यक्ति नहीं है। संसारमें उस परब्रह्म के अतिरिक्त चैतन्य सत्ता का कोई अन्य स्रोत नहीं है, इसलिए ब्रह्म ही विविध रूपों में प्रकट होकर सृष्टि का विकास करता है। इस तथ्य को 'मनुस्मृति' में बहुत स्पष्टता से कह दिया गया है—

यत्तत्कारणमव्यक्तं नित्यं सद्सदात्मकम्।
तद् विसृष्टं स पुरुषो लोके ब्रह्मेति कीर्त्यते॥

अर्थात् जो अव्यक्त, सद्सदात्मक नित्य कारण है वह ब्रह्म है और उसीसे विसृष्ट या प्रेरित सृष्टिमें जो अनुपविष्ट कारण में वहब्रह्मा कहा जाता है।"

इस सबका तात्पर्य यही है कि पुराणों ने ब्रह्मा, विष्णु, महेश तीन प्रधान देव और इन्द्र, वरुण, यम, कुवेर, गणेश आदि सैकड़ोंगोण देवता मानने पर भीइस मूल तत्वसे इनकार नहीं किया है किइससमस्त विश्व प्रपंच का मूल एकही है जिसे परमात्मा, परब्रह्म, निराकार ईश्वर आदि किसी भी नाम से पुकारा जा सकता है। जिस प्रकारपिता अपनी स्त्रीके गर्भ में स्वयं बीज रूपसे प्रविष्ट होकर पुत्र बनताहै या वृक्ष अपना समावेश बीज के भीतर कर देता है उसी प्रकार निराकार ब्रह्म स्वयं ही अण्डे के भीतर प्रविष्ट होकर साकार देवतत्वों का आभिर्भाव करते हैं और बादमें वे ही सचराचर जगत्के रूपमें अपना विस्तार करते हैं। इसी दृष्टिसे वेदान्तमें प्रत्येक व्यक्ति को ब्रह्म स्वरूपही माना है और मुक्त कण्ठ से 'अहं ब्रह्मास्मि' की घोषणा कर दी है।

यद्यपि ऊपर से देखने पर अपने व्यक्तियोंको सृष्टिके आदि कारण

का यह विवेचन अनावश्यक अथवा निरर्थक भी मालूम पड़ सकता है वे कहेंगे कि इतनी दूर जाने की, ऐसे अज्ञेय क्षेत्र में प्रवेश करके महा कठिन कल्पना करने की क्या आवश्यकता है ! जो कुछ सामने है उसी को यथार्थ मानकर उपयोग और व्यवहार क्यों न किया? पर यह बहुत संकीर्ण अथवा अदूरदर्शी दृष्टिकोण है । ऐसे ही विचारों के कारण आज संसार में भौतिकवाद का बोलवाला है और अधिकांश मनुष्य किसी प्रकार स्वार्थ साधन को ही सबसे महत्व का काम समझ बैठे हैं । इसका परिणाम घोर व्यक्तिगत स्वार्थ परता पारस्परिक संघर्ष दूसरे का नाश करके भी अपना लाभ करने की प्रवृत्ति के रूप में देखने में आता है । यही प्रवृत्ति बढ़ते-बढ़ते आज समग्र संसार को एक साथ नष्ट करने के भय के रूप में उपस्थित हो गई है ।

यह सब नाशकारी परिणाम उन मनुष्यों के जीवन के पीछे किसी तरह की उच्च दार्शनिक पृष्ठ भूमि न होने से ही उत्पन्न हुए हैं । पर जो मनुष्य यह विश्वास करता है कि यह समस्त जगत और तमाम प्राणी एक ही स्रोत से उत्पन्न हुए हैं और यह एक अविनाशी महाशक्ति का खेलमात्र है, जो कुछ समय बाद फिर उसी एक तत्व में विलीन हो जायेगा, तो वह मिट्टी से बने और थोड़े ही समय बाद फिर मिट्टी हो जाने वाले पदार्थों के लिये किसी तरह का हीन, निकृष्ट काम करने को तैयार न होगा । इस दार्शनिक दृष्टिकोण के कारण ही पूरब और पश्चिम की मनोवृत्तियों में जमीन आसमान का अन्तर हो गया है जिस का वर्णन एक बिनोदी उर्दू कविने इनदो लाइनों में किया है ।

कहा मैसूर ने खुदा हूँ मैं ।
डार्बिन बोले बूवना हूँ मैं ।।

अर्थात्—मैंसूर (इरान के ब्रह्मज्ञानी) ने घोषणा की कि मैं खुदा हूं (अहं ब्रह्मास्मि) और योरोप के विज्ञानी पुरुष डार्विन ने कहा 'मैं बन्दर हूँ ।''

जिस व्यक्ति की यह भावना होगी की मैं इस समस्त संसार के आदि कारण परब्रह्म का अंश हूँ वह सदा अपनी निग'ह बहुत ऊपर रखेगाओर

नीचतापूर्ण कार्यों से बचता रहेगा। पर जिसकी धारणा यह होगी कि मैं तो मिट्टी, पानी आदि पंचभूतों का पुतला हूँ, और सौ-सौ पचास वर्ष में फिर उन्हीं में मिल जाऊँगा, उसकी निगाह सोना-चाँदी इकट्ठा करके तरह-तरह के भोग अधिक से अधिक मात्रा में प्राप्त कर लेने के अतिरिक्त और कहाँ जा सकती है? इसलिये भारतीय मनीषियों का सबसे पहले सृष्टि के मूल कारण पर विचार करना और मनुष्यों को सदैव अपने सच्चे स्वरूप पर विचार करते रहने की प्रेरणा देना निस्सन्देह व्यक्ति और समाज के लिये परम कल्याणकारी है।

समाज का निर्माण और विकास–

सृष्टि-विकास के पश्चात समाज निर्माण पर विचार करना आवश्यक है। पुराणों में भौतिक पदार्थों और जीव जगत की उत्पत्ति का जो क्रम बतलाया गया है वह अधिकाँश में विज्ञान-सम्मत है, उसे सर्वथा काल्पनिक नहीं कहा जा सकता है। पहिले कहा जा चुका है कि महत्तत्व सात्विक, राजस और तामस तीन प्रकार का अहङ्कार पैदा होता है। आगे चलकर सर्वप्रथम तामस अहङ्कार से 'असंज्ञ' (चेतना रहित) पदार्थों की उत्पत्ति होती है जैसे मिट्टी, पत्थर, लोहा आदि, फिर राजस अहङ्कार से 'अन्त: संज्ञ' (सुप्र-चैतन्य) पदार्थों की उत्पत्ति होती है, जैसे घास बेलें वनस्पति, वृक्ष आदि। इनसे प्राणशक्ति प्रकट हो जाती है, पर मनकी क्रिया भीतर छिपी रहती है। अन्त में सात्विक अहङ्कार से 'ससंज्ञ' (चैतन्य) जीवधारी सृष्टि होती है जैसे कीट, पतंग पक्षी, मनुष्य आदि। पांचकर्मेइन्द्रियाँ, पंच ज्ञानेन्द्रियाँ और ग्यारहवाँ मन। इस विकार सर्ग के विकसित होने के कारण ससंज्ञ सृष्टि को 'वैकारिक' भी कहा जाता है।

जीवधारी सृष्टिके सम्बन्धमें बतलाया गया है कि ब्रह्मा ने जो प्राणी प्रथम बनाये वह सर्दी-गर्मीसे बहुत कमप्रभावित होकर नदियोंझीलों समुद्र और पर्वतोंके निकट विचरण करते रहते थे। वे उपयोगके विषय में अनायासतृप्ति लाभकर लेतेथे और उनमेंकिसी प्रकार विघ्नद्वेष अथवा मत्सरता। वे दृष्टि न बनाकर पर्वत या समुद्र तट पर निवास करते एवं सदा

निष्काम भावी और प्रसन्नचित्त थे। यह स्पष्टत: उस समय का वर्णन है जिसे हम 'प्रकृति का साम्राज्य' या 'स्टेट आफ नेचर' कहते हैं। उस समय प्राणी अपना निर्वाह घास-पात, फल-फूलसे कहते है और इसलिए उनको किसी प्रकार चिन्ता या संघर्ष की आवश्यकता नहीं है। यही वह युग होता है जिसके लिये कथाओं में कहा जाता है कि पशु और पक्षी भी बातें करते हैं और देवता भी उनकी सहायता को आ जाते हैं वास्तव में जिस समय तक भाषा का अविर्भाव नहीं होता तब प्रत्येक प्राणीदूसरे प्राणी के भावों को उसकी आकृति और ध्वनि, चीत्कार आदिसे पहचान लेता है। उनका प्राकृतिक शक्तियों के द्वारा ही सञ्चालन होता है और वे प्रकृति के संकेतों का आशय भी भली प्रकार समझते हैं। इस दृष्टि से उस आदि कालीन युगमें एक प्रकार से देवता ही पृथ्वी पर विचरण करते हैं।

पर परिवर्तन शील सृष्टि क्रम में यह अवस्था सदैव स्थिर नहीं रह सकती। क्रमश: जीवों की अनायास तृप्ति हो जाने की 'सिद्धि' समाप्त होने लगी और आकाश से जल रूपी दूध बरसने लगा और लोगों के निवास स्थानों में कल्पवृक्ष उत्पन्न हो गये जिनसे उनकोआवश्यकता की समस्त वस्तुऐ प्राप्त हो जाती थी। तत्पश्चात् जब मनुष्योंमें कल्पवृक्षों के प्रति राग उत्पन्न होने लगा तो वे नष्ट हो गये और चारशाखा वाले अन्य वृक्ष पैदा हुए जिनके प्रत्येक पुट में बिना मक्खियों के ही मधु उत्पन्न होता था और उसीको पीकर लोग जीवन निर्वाह करतेथे।यह स्थिति त्रेतायुग में थी क्रमश: मनुष्य अत्यन्त लोभी होने लगे उन वृक्षों पर अपना अधिकार जमाने लगे और उनकी जड़ों में अपने रहने के घर बना लिये। इससे वे वृक्ष में भी कुछ काल में नष्ट हो गये।

उस समयमें सब प्राणी भूख-प्यास से व्याकुल होकर अत्यन्तकातर होने लगे। कुछ समयपश्चात् आकाशसे जलकी विशेषरूपसे वर्षाहोनेलगी और उसकाजल मिट्टीके संयोगसे दोषरहित होकर नदियोंके रूपमेंपरिणत होगया। नदियोंके प्रभावसे पृथ्वीपर तरह-तरहकी उत्तम औषधियां (वनस्पतियाँ) पैदाहुई जिनका उपयोग करनेसे लोगोंका सुखपूर्वकनिर्वाह

होने लगा। पर जब लोग उन वनस्पतियों को भी अधिक से अधिक परिणाम में इकट्ठा कर लेने का लालच करने लगे तो वह भी नष्ट हो गई कोई अन्य उपाय न देखकर लोगों ने भगवान् ब्रह्माजी (बुद्धि) की शरण ली तो उन्होंने कुछ बीज उत्पन्न करके लोगों को कृषि-विद्या का उपदेश दिया और सामाजिक सुव्यवस्था की दृष्टि से उनको चार वर्णों में विभाजित करके प्रत्येकवर्ण को एक-एक कार्य का उत्तरदायित्व सौंपा उन्होंने कर्म परायण ब्राह्मणों के लिए प्राजापत्य स्थान, संग्राम करने वाले क्षत्रियों के लिए ऐन्द्र स्थान, स्वधर्म निरत वैश्यों के लिए मारुत-स्थान और सेवा परायण शूद्रों के लिए गांधर्व-स्थान की कल्पना की।'

इस विवेचन से आदि मानव-समाज और उसके क्रमशः विकास पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। वर्तमान युग के अर्थशास्त्र तथा समाज के एक बड़े विवेचक कार्लमार्क्स ने यह मत प्रकट किया है मानव समाज में सब तरह की प्रथाओं और रीति-रिवाजों के उत्पन्न और प्रचलित होने का मूलाधार आर्थिक व्यवस्था ही थी जिस काल में जीवन-निर्वाह के जैसे साधन प्राप्त थे वैसे ही सामाजिक व्यवस्था भी उस समय बन गई। उपर्युक्त पौराणिक वर्णन में भी यही बतलाया गया है कि जैसे-जैसे जीवन निर्वाह विधि के साधन बदलते गये उसी प्रकार प्राणियों और उनकी जीवन-निर्वाह विधि में भी परिवर्तन होता गया। जब तक लोगों में स्वार्थ बुद्धि की वृद्धि नहीं हुई और वे प्रकृत्ति दत्त पदार्थों में से आवश्यकतानुसार ही लेकर अपनी भूख मिटा लेते थे तब तक उनका काम बिना किसी विशेष प्रयत्न के जङ्गल और वनों की स्वाभाविक उपज से होता रहा। पर जैसे-जैसे उनमें संग्रह और परिग्रह की भावना उत्पन्न होने लगी प्रकृति भी अपने दान को संकुचित करने लगी और लोगों को जीवन निर्वाह की परिश्रम और युक्तिसाध्य विधियों का आश्रय लेना पड़ा। इसी से खेती और पृथक् परिवार की प्रथा का जन्म हुआ। आगे चलकर विभिन्न प्रकार के सामाजिक कार्यों तथा पेशों के बढ़ने से जाति-प्रथाका भी उद्‌भव हुआ। जितने ही अधिकलोग विभाजित हुए और अपने उत्पादन को सुरक्षित रखकर उसका स्वयं उपभोग करने लगे वैसे-वैसे ही मानव सम्बन्धों में जटिलता आती गई

और क्रमश: शासन, राज्य और राष्ट्र का प्रादुर्भाव होकर मानव-समुदाय आधुनिक सभ्यता, संस्कृति तक पहुँच गया।

यह तो भौतिक पदार्थों के विभाजन तथा स्वामित्वके कारणउत्पन्न सामाजिक व्यवस्था की एक मोटी रूप रेखा हुई। जब इसके साथभली बुरी मनोवृत्तियों, धर्म-अधर्म कर्तव्य, अकर्तव्य सत्य झूँठ, प्रेम-घ्रणा, मित्रता-शत्रुता आदि भावनाओं का योग होता हैं तो मानव-व्यवहारों में ऐसी जटिलता आ जाती है कि जिसके निर्णय और कार्य रूप में परिणत करने में बड़े-बड़े समाज शास्त्री तथा न्यायवेत्ता विद्वानों की बुद्धि भी चकरा जाती है। इसका वर्णन पुराणकार ने अपनी रूपक और अलंकारों की विशिष्ट शैली में इस प्रकार किया है—

"जब ब्रह्मा के मानस पुत्रों से सृष्टि का विस्तार न हो सका तो उन्होंने एक पुरुष उत्पन्न करके उसके आधे भाग से एक स्त्री को भी उत्पन्न किया और उनको पति-पत्नी बनाकर प्रजाकी उत्पत्ति का आदेश दिया वे ही संसार के प्रथम मानव प्राणी स्वायम्भुव मनु और शतारूपा थे। उनके दो पुत्र हुए। प्रियव्रत और उत्तानपाद। दो कन्याएँ भी हुई प्रसूति और ऋद्धि-ऋद्धिका विवाह रुचि से हुआ जिससे यज्ञ और दक्षिणा नामक दो सन्तानों की उत्पत्ति हुई। दक्ष और प्रसूतिके चौवीस कन्याएँ हुईं उन्हें धर्म ने अपनी पत्नी बनाया। इसके साथ ही अधर्म का परिवार भी बढ़ा। उसकी पत्नी हिंसाव का अनृत नामक पुत्र और सृति नामक कन्या उत्पन्न हुई। उनसे नरक और भय नामक पुत्र हुए और माया तथा वेदना दो कन्याएँ हुई। माया से मृत्यु और वेदना से दुख नामक पुत्र उत्पन्न हुए। मृत्यु से व्याधि जरा, शोक तृष्णा और क्रोध नामक पुत्र हुए। दु:ख से जो सन्तति हुई वह सब अधर्म का आचरण करने वाली थी। मृत्यु ने लक्ष्मी नामक एक ओर स्त्री से विवाह किया जिसके चौदह पुत्र हुए जो मनुष्यों के मन तथा इन्द्रियों में प्रविष्ट होकर उनको नाश की तरफ ले जाते हैं।

इन पुत्रों में से एक का नाम दु:सह है, जिसको अत्यन्त भयंकर बत-

लाया है कि वह जन्म लेते ही ऐसा भूखा था कि समस्त संसार के उसके द्वारा नष्ट होने की सम्भावना जान पड़ी। तब ब्रह्म ने उसके रहने के लिये स्थान नियतकरदिए किजहाँ,बुरे लक्षण,आलस्य प्रमाद दारिद्रय हों वहाँ पर निवास करे। जहाँ देशाचार, जाति धर्म लोकचार का ठीक तरह से आचरण किया जाता है जप होम, मंगल यज्ञ शौच आदि का विधिवत पालन किया जाता है उन स्थानों से वह दूर रहे। इस दु:सह के निमष्टि' नाम पत्नी से सन्तकृष्टि, तथोक्ति, परिवत, अंगध्रूक, शकुनि गण्ड, प्रान्तरति और गर्भहा नामक आठ पुत्र हुए। नियोजिका विरोधिनी, स्वयंहारकी, भ्रामणी ऋतुहारिका, स्मृति हरा बीज हरा और विद्वेपणी नामक आठ कन्यायें भी हुईं। दु:सहकी इन सोलह सन्तानों ने मनुष्यों के जीवन को महाकष्टयमय बना दिया और जिस पर उनका वश चलता है उसे वे नष्ट करके ही छोड़ते हैं।"

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि दु सह और उसकी सन्तानों का आशय तरह-तरह की दूषित मनोवृत्तियों, नैतिक, समाजिक और भौतिक दोषों और भाँति-भाँति के रोगों से ही हैं, जो कर्तव्य विमुख और आलसी व्यक्तियों पर सवार होकर उन्हें नष्ट किया करते हैं। पुराणकार ने दु:सह के रहने के जितने स्थान बतलाये है वे सब दूषित आचरण वालों के ही लक्षण हैं। सदाचारी और कर्तव्यरत व्यक्तियों की तरफ वह आँख उठा कर भी नहीं देखता। अड़तालीसवें अध्याय में दु:सह के क्रिया-कलापों का विस्तृण वर्णन नि:सन्देह पढ़ने और शिक्षा ग्रहण करने योग्य है।

रुद्र सृष्टि अथवा अग्नि तत्व की व्याख्या—

अगले अध्याय में कहा गया है कि ब्रह्माजीने कल्प के आदि में अपने समान एक पुत्रका ध्यान कियातो एकनील लौहित कुमारउत्पन्न हुआ। वह ब्रह्मआजीकी गोद में रोने लगा। ब्रह्माजी ने पूछा—तू क्यों रोता हैं। तो उसने कहा'मेरा नाम रखिये। उसने उत्पन्न होते ही रुदन किया इससे ब्रह्माने कहा-तुम्हारा नाम 'रुद्र' हुआ। इस पर वह सातबार और रोया तब ब्रह्माने उसके सात नाम और रखे—भव, शर्व ईशान, पशुपति, भीम

उग्र और महादेव। तब उसके रहने के लिए आठ स्थान नियत किये–सूर्य, जल, पृथ्वी, अग्नि, वायु, आकाश, दीक्षित, ब्राह्मण और सोम। उसकी आठ पत्नियाँ भी बनादी-सुवर्चला, उमा, विकेशी, स्वधा, स्वाहादिक दीक्षा रोहिणी। शनैश्चर, शुक्र, लोहिताङ्ग, मनोजव, स्कन्द, सग, सन्तान और बुध को रुद्र के आठ पुत्र बताये गये हैं।

यह रुद्रका रूपका वैदिक साहित्य में वर्णित प्राण तत्व की कथा के रूपमें व्याख्या है 'शतपथ ब्राह्मण' में कहा गया है 'यो वै रुद्रः सोऽग्नि' अर्थात् अग्नि या प्राणतत्व का नाम रुद्र भी है। पुराण में इसका नाम जो 'नीललोहित कुमार 'कहा गया हैं उसका आशय यही है कि अग्नि की रश्मियों का अथवा सूर्य-रश्मियों का वर्णन एक छोर पर नीला और दूसरे पर लोहित (लाल) ही होता है। 'अथर्ववेद' के एक सूक्त में भी रुद्र के 'नीला लोहित धनुष' का उल्लेख मिलता है। अग्नि तत्व जब अपने केन्द्रों में जाग्रत होता है तो वह 'रुद्ररूप' में होता है। उसमें वुभुक्षावृत्ति उत्पन्न होती है अर्थात् वह बाहर के कोई पदार्थ अपने पोषण को चाहता है। जब उसे वह पदार्थ मिल जाता है तो वह रचनात्मक अर्थात 'शिव बन जाता है। रुद्र के जो सात नाम और बतलाये गये हैं वे अग्नि तत्व के सात रूप हैं जो अव्यक्त पदार्थों को व्यक्त रूप में लाने के साधन बनते है। अग्नि या प्राण तत्व ही समस्त भौतिक पदार्थों को प्राण या गति तत्व को प्रदान करता है। अत: वे उसके स्थान है। इसी प्रकार स्वधा स्वाहा आदि आहवनीय अग्नि से सम्बन्धित हैं। शनि, शुक्र, बुध आदि सभी ग्रह उपग्रह अग्नि तत्व के ही विभिन्न रूप या उनके परिवार की तरह हैं।

मन्वन्तर और सप्त द्वीप वर्णन–

इसके पश्चात् स्वायम्भुव मन्वन्तर और उसमें उत्पन्न राजाओं के शासन-क्षेत्र के रूप में जम्बू, प्लक्ष, शाल्मलि कुश, क्रौञ्च शाक और पुष्कर इन सात द्वीपों का वर्णन आया है। इन सातों द्वीपों का विस्तार

सब मिलकर पचास करोड़ योजन बतलाया गया है, जिसमें से जम्बूद्वीप की लम्बाई चौड़ाई एक लाख योजन है और भारतवर्ष इसी का एक भाग है स्वायम्भुव मधु के बड़े पुत्र प्रिय व्रत की प्रजावती नामक पुत्री का विवाह प्रजापति कर्दम के साथ किया गया। उसके सात पुत्र हुए जिनमें से अग्नीध्र को जम्बू का, मेधातिथि को प्लक्ष द्वीप का, व युष्मान को शालमलि का, ज्योतिष्मान् को कुशका, द्युतिमान् को कोञ्च, भव्य को शाकद्वीपका और सवन को पुष्कर का अधिपति बनाया गया। फिर इन में से प्रत्येक के भी प्रायः सात-सात ही पुत्र हुए जिनके लिए उक्त द्वीपों को सात विभाग में जिनका नाम वर्ष रखा गया है, बांट दिया गया। इनमें से प्रत्येक द्वीप में सात पर्वत और सात नदियाँ भी थी। इन सबकी बड़ी नामावली अनेक पुराणों में पाई जाती है, पर वह पाठकों के लिए रुचिकर नहीं हो सकती। उनका एकाधनाम वर्तमान इतिहास या भूगोल के नामों से मिलता हैं, पर उसे अधिक महत्व देना ठीक नहीं। एक विद्वान का इस सम्बन्ध में यह भी मत है कि ये सातों द्वीप एक समय में एक साथ मौजूद नहीं थे, पर पृथ्वी के उलट फेर के फलस्वरूप विभिन्न कालों में बने और नष्ट हुए हैं। वर्तमान समय में हम पृथ्वीं के जिस रूप को देख रहे हैं वह जम्बूद्वीप है और उसी का वर्णन कुछ अंशों में हमको प्रत्यक्ष दिखाई देता है। शेष छः द्वीप भूत काल या भविष्य काल से सम्बन्धित है। पर पुराणों ने इस विषय पर त्रिकालद्रष्टा की हैसियत से विचार किया सृष्टि रचना और इसके विलय के नाटक को इस प्रकार लिख दिया है जैसे वह एक ही समय में उनके नेत्रों के सम्मुख हो रहा हो।

अधिकांश विद्वानोंके मतानुसार जम्बूद्वीप का जो वर्णन पुराणों में किया गया है उसमें एशिया के बड़े भाग का समावेश हो जाता है। पर चूंकि पुराने समय में आवागमन के साधन बहुत ही सीमित थे इसलिए सभी लेखकोंने जो भौगोलिक वर्णन लिए हैं उनमें वास्तविकता और कल्पना सम्मिलत है। पुराणों के वर्णन में नहीं वरन् यूनानी इतिहासकार हेरीडोटस तथा इटेलियम मार्कोपोलोके वर्णनों में भी बहुत सी बातें ऐसी

पाई जाती है जो इन्होंने दूसरे लोगों से सुनकर लिख दी थी और जो अब काल्पनिक सिद्ध हो रही है। इसलिए पुराणों पृथ्वी के विभिन्न द्वीपों, समुद्रों,खन्डों का जो वणन किया गया है वह कथा रूपमेंही ग्रहण किया जाना चाहिये। वास्तवमें पुराणकार भारत वर्ष में ही रहते थे, यहीं के निवासियों से उनका परिचय और सम्बन्ध था, इसलिए इन्होंने यहाँ के नगरों, जनपदों, पर्वतों, नदियों के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा हैं वही प्रामाणिक और उपयोगी सिद्धहोताहै। फिर पुराणोंका मुख्यउद्देश्-यजन साधारणको धार्मिक और नैतिक शिक्षा देनाथा इसी दृष्टिसे उनकी महतापर विचारकरना चाहिये। इस प्रकारके भौगोलिक वर्णनतो इन्होंने कथानकों को प्रभावशाली बनाने के उद्देश्यसे कियेहैं और वे सभीपुराणों में प्राय: उसीरूपमें लिख दिये गये हैं जिसमें वे परम्परासे चलते आतेथे। आधुनिक वैज्ञानिक खोजों के दृष्टिकोणमें उनकी आलोचना में प्रवृत्ति होना अपनी 'विभा' के अहङ्कार का निरर्थक प्रदर्शन ही है।

आग्नीध्र को लम्बू द्वीप दिया गया उसके अपने पुत्रोंमें उसने नौ हिस्से कर दिये। इनमें हिम नाम दक्षिणवर्ष नाभि राजा को मिला। नाभि से इनका उत्तराधिकार उनके पुत्र ऋषभ को मिला और ऋषभ अपने पुत्रभरत को राज्य को देकर तपस्या करने चले गये। इन्हींभरतके नाम से यह खण्ड भारतवर्षके नामसे प्रसिद्ध हुआ। पुराणको के मतानु-सार शकुन्तला के पुत्र भरत के नामके आधार पर इस देश का नाम भारतवर्ष होनेकी कल्पना ठीक नहीं हैं। यह भरतभी महायोगी औरत पस्वी थे। वे कुछ समय पश्चात अपने पुत्र सुमतिको गद्दी पर विठा कर वनको चले गये। इस प्रकार स्वायम्भुव मनुबके पुत्रप्रियसव्रत का वंश समस्त पृथ्वी पर बहुत समय तक शासन करता रहा।

इसके पश्चात् अन्य पाँच मन्वन्तरों के सम्वन्ध में भी तरह-तरह की कथायें दी गई हैं जिससे अनेक प्रकारकी शिक्षायें प्राप्त हो सकती है। पर ऐतिहासिक या सामाजिक विकासकी दृष्टिसे इनमें विशेष तथ्य दृष्टि गोचर नहीं होता है।

सूर्य का तात्विक विवेचन

सूर्य-रचना का मुख्य आधार सूर्य है। संसार के प्रत्येक पदार्थ को उसी से उष्णता प्राप्त होती है और वहीप्राण रूप बनाकर प्रत्येक जीवित प्राणी में गति उत्पन्न करता है। मनुष्यमें निरोगिता, स्वास्थ्य, शारीरिक बल, उत्साह साहस पराक्रम आदि गुण भी उसीके प्रभाव से उत्पन्न होते हैं। यही प्रकाशका एकमात्र साधन है। उसकेबिना सर्वघोर अन्धकार ही है। प्रकाश के अन्य जितने कृत्रिम साधन मनुष्य ने खोज निकाले हैं वे भी सूर्य की ही देन हैं। सूर्य अग्नि-तत्व का प्रतीक है और उसके बिना संसार जड़ और मृतक ही है।

मार्कण्डेय पुराण में इस प्राकृतिक को ही सबसे अधिक महत्व दिया गया है और उसी को पूजा उपासना के योग्य बतलाया गया है। वैवस्तव मन्वन्तर का आरम्भ सूर्य के पुत्र मनुसे ही मानागया हैं और उसके वर्णनमें सूर्यकी महिमापर पर्याप्त प्रकाशडाला गया है कथामेंकहा गया है कि त्वष्टा (विश्वकर्मा) की पुत्री संज्ञाका विवाह सूर्यसे हुआ था जिससे वैवस्वतमनु तथा यमदो पुत्रों तथाएक पुत्री यमुना काजन्महुआ। उस समय सूर्य का तेज अत्तन्त प्रखरथा और संज्ञा उसेसह सकने मेंअस-मर्थथी। इससे वह अपना एक छायामय शरीर बनाकर गुप्त रूप से अपने पिता के घर चली गयी और छायासे कह गई कि तुम इस भेदको कभी प्रकट मत करना कुछ समय पश्चात् पिताने संज्ञा को फिर पति गृह जाने की सलाह दी तो वह वहाँसे चली आई और घड़ी का रूप-रखकर सूर्य के रूप का सुधार होने के उद्देश्य से तप करने लगी।

कुछ समय पश्चात् सूर्य को छाया के रूप में कृतिम संज्ञा का भेद मालूम पड़गया और उन्होने विश्वकर्माके पासजाकर इस सम्बन्ध मेंपूछा तोमालूम हुआ कि सूर्यके असहनीय तेजके कारण पिताके यहाँ चलीआई थी और अब कहीं तप करने चली गई है यह जानकर सूर्यने विश्वकर्मा से अपने स्वरूपको काटछांटकर सौम्य बना देनेको कहा। उन्होंनेसूर्य को

'सम्वत्सर' रूपी खराद पर चढ़ाकर इस प्रकार छांट दिया जिससे उन का स्वरूप बहुत दर्शनीय और लोकोपयोगी बन गया। उसके स्वरूप के दर्शन करके देवता उसकी इस प्रकार स्तुति करने लगे—

हे देव ! तुम ऋग्वेद स्वरूप हो तुमको नमस्कार है। तुम्हीं यजुः स्वरूप हो तुमको नमस्कार है। (तुम्हीं) ज्ञान (प्रकार) के एक मात्र आधार हो, तुम्हीं तम (अन्धकार के नाशक), युद्ध ज्योति स्वरूप और निर्मल हो, तुमको, नमस्कार है। तुम शंख, चक्र गदा पद्म धारण करने वाले विष्णु रूप हो, तुम्हें नमस्कार हैं। तुम्हीं वरिष्ठ वरेण्य पर और परमात्मा हो, तुम्हीं ज्ञानी मनुष्यों की निष्ठा, सर्वभूतों के कारण स्वरूप हो। तुम्ही प्रकाश, आत्मा रूपी भास्कर, दिनकर हो, तुम्हीं रात्रि के कारण स्वरूप हो, तुम्हीं सन्ध्या और ज्योत्स्नाकारी हो। तुम्हीं भगवान हो, तुम्हारे द्वारा ही जगत जाग्रत और गतिमान् होता है। तुम्हारे प्रभाव से ही यह चराचर युक्त अखिल ब्रह्माण्ड भ्रमण करता हैं। सम्पूर्ण पदार्थ तुम्हारी किरणों से स्पर्श होकर पवित्र होते हैं। तुम्हारी किरणों द्वारा ही जलादि की पवित्रता साधित होती हैं। हे देव ! जब तक यह जगत् आपकी किरणों के संयोग को प्राप्त नहीं होता तब तक होम दानादि कोई उपकार कर्म भी नहीं हो पाता। आपके अंग से जो किरणें निकलती हैं में ही ऋक् यजुः साम रूपी त्रयी विद्या हैं। तुम्हीं ब्रह्म रूपी प्रधान ओर अप्रधान हो। तुम्हीं मूर्तिधारी ओर अमृत हो, स्थूल और सूक्ष्म रूप से तुम्हीं काल रूप हो।'

इस स्तोत्र में सूर्य को जो वर्णन किया है उससे प्रकट होता हैं कि इन पक्तियोंका लेखकसूर्यकोही परमात्माका मुख्य स्वरूप मानताहैं और संसार में एकमात्र उन्हींको पूजनीय,अर्चनीय,उपासनीय तत्व स्वीकार करता है। वेद में भी प्रकाश और तपदोनों का कारण सूर्य को ही बतलाया गया है और ब्रह्मांड मेंजो गति और जगतमें प्राणतत्व दिखाई पड़ता है उसका मूल भी सूर्यके अतिरिक्त कोई न हो। सूर्य को त्रयी विद्या का भी मूल बतलाया गया है। यही त्रयीविधा, वेदों का एक महत्वपूर्ण विषयहै और कुछ विचार

करने से प्रतीत होता है कि वही हिन्दू धर्म की सबसे बड़ी मान्यताओं का मूल स्रोत है। इस सम्बन्ध में एक विद्वान ने लिखा है—

'ऋक्-यजु सामका सम्मिलित रूप सूर्य है वस्तुत: यह वैदिक तत्व-ज्ञान का मूलभूत दृष्टिकोण था। विश्व की प्रत्येक रचना सूर्य की शक्ति है। त्रयी विद्या को ही यज्ञ कहते, हैं इसलिए सूर्य को यज्ञ-नारायण कहा जाता है। त्रयी विद्या 'त्रिक' का ही दूसरा नाम है। भारतीय धर्म, दर्शन, वैदिक और पुराण तत्व सबका मूल त्रयी विद्या या त्रिक हैं वेद में अव्यय-पुरुष, अक्षर-पुरुष और क्षर-पुरुष, पुराणों में ब्रह्म, विष्णु शिवा रूपी त्रिदेव एवं दर्शन में सत्व, रज तम नामक तीन गुण त्रयी विद्या के ही रूप हैं। यही भू:भुव, स्व: नामक तीन व्याहृतियां हैं। भारतीय साहित्य में त्रिकों की अनेक समानान्तर सूचियां हैं। मन-प्राण वक् एवं प्राण-अपान व्यान त्रिक के ही रूप हैं। इस प्रकार त्रयी विद्या या त्रिक' का अपरिमित विस्तार भारतीय साहित्य में पाया जाता हैं। सूर्य उस विद्या का सर्वोत्तम प्रतीक है।'

'मार्कण्डेय पुराण' में इस एक स्थान पर ही नहीं वरन् अनेक प्रसङ्गों में सूर्य को ही सृष्टि का सबसे महान और रचनात्मक साधन बतलाया गया है। अध्याय ९४ में कहा गया है कि ब्रह्मा ने जब चारों वेदों को प्रकट किया और उनका समस्त उत्तम तेज एक होकर ॐकार' के श्रेय तेज से संयुक्त हुआ तब सूर्य का सर्वोच्च तेज दृष्टि गोचर होने लगा। यह तेज सृष्टि रचना में सबसे पहले उत्पन्न हुआ था इसी से 'आदित्य' कहा जाता है। पर उस आरम्भिक दशा में यह इतना प्रखर और अनियन्त्रित था कि ब्रह्माजी ने देखा कि वे कुछ सृष्टि रचेंगे वह सब इसकी तीव्रता से नष्ट हो जायेगी। इसका उत्ताप जल सोख लेगा और पृथ्वी तत्व को भी भस्म रूप कर देगा। इसलिए उन्होंने सूर्य नारायण की स्तुति करते हुए कहा—

'जो सम्पूर्ण विश्व के आत्म स्वरूप है, जो इस विश्वरूप में ही वर्तमान है, विश्व ही जिनकी मूर्ति हैं, योगीगण जिनकी इन्द्रियों से अग्राह्य परम ज्योति का ध्यान करते हैं, मैं उनको नमस्कार करता हूँजो अचिन्त्य

शक्ति ऋग्वेदमय यजुर्वेद का आधार सामवेद की उत्पत्ति का कारण हैं, जो परमब्रह्म स्वरूप और गुणातीत है। सबसे पहले मैं उन्हीं सर्वकारण रूप परम पूज्य, परमवेद्य, परम ज्योति, देवात्मता हेतु स्थूल रूपी से भी श्रेष्ठतर आदि पुरुष भगवान् को नमस्कार करता हूँ। हे देव ! तुम्हारी शक्ति ही 'आद्या' है क्योंकि उसी के द्वारा प्रेरित होकर मैं जल पृथिवी, पवन और अग्नि रूपी देवताओं और प्रणवादि की सृष्टि करता हूँ। इसी प्रकार स्थिति और प्रलय भी मैं तुम्हारी शक्तिसे प्रेरित होकर ही करता हूँ।

हे भगवान् ! तुम्हीं वह्नि रूप हो। जब तुम पृथिवी का जल सोखते हो तब मैं जगत् की रचना और अन्नादि को सम्पन्न करता हूँ। तुम्हीं सर्वव्यापी गन स्वरूप हो और तुम्हीं इस पंच भूतात्मक विश्वकी रक्षा करते हो। हे विवस्वन्, परमात्मा तत्व के ज्ञाता अखिल यज्ञमय विष्णु रूप में यज्ञों द्वारा तुम्हारी ही अर्चना करते हैं। आत्ममोक्षाभिलाषी जितेन्द्रिय यतिगण परम सर्वेश्वर जानकर तुम्हारा ही ध्यान करते हैं। तुम्हीं देवरूप हो, मैं तुमको प्रणाम करता हूँ। तु म्हीं योगीजनों द्वारा चिन्तनीय परब्रह्म स्वरूप हो तुम को प्रणाम करता हूँ। हे विभो ! तुम अपने तेज को निवृत्त करो मैं सृष्टि करने को उद्यत हुआ हूँ। तुम्हारा जो प्रखर तेज समूह सृष्टि में विघ्नकारी होता है उसे संयमित करो।'

इसी प्रकार देवमाता अदिति द्वारा और राज्य वर्धन के आख्यान में ब्राह्मणों और राजा द्वारा सूर्य के कई स्तोत्र इस पुराण में दिये गये हैं, जिनसे प्रकट होता है कि विष्णु, शिव, राम, कृष्ण आदि पौराणिक प्रतीकों के स्थान पर मार्कण्डेय पुराण के रचयिता ने विवस्वान्' (जिनसे आगे चल कर इन्द्र (प्राण) और विष्णु तथा शिवका आविर्भाव होता है को ही उपासना तथा ध्यान को सर्वश्रेष्ठ और मूल लक्ष्य माना है, पुराण में देवासुर संग्रामकी जो कथायें भरी पड़ी हैं, उसका बहुत कुछ सम्बन्ध भी सौर शक्तिके आविर्भाब से ही हैं। वेदों में जिस वृत्रासुर का प्रसंग आया है और जिसको नष्ट करके इन्द्र 'देवराज' वने थे वह वास्तव में सार-शक्ति के अवरोधक अन्धकार तत्व के मिटने का ही वर्णन है।

शक्ति के दो रूप और देवी द्वारा असुरों का पराभव–

७३ से ८५ अध्याय तक देवी के आविर्भाव और उसकी अपार महिमा का वर्णन किया है। इसके लिए किसी सुरथ नामक राजा का उपाख्यान दिया गया है कि उसके राज्य को शत्रुओं ने षड्यन्त्र करके छीन लिया और उसे विवश होकर सब कुछ छोड़कर वन में चला जाना पड़ा। पर वहाँ भी उसका ध्यान अपने महल, कोषागार, नगर, हाथी, घोड़ों में लगा रहा और वह उनके विषय में चिन्ता करता हुआ दुःखी रहने लगा। वहीं उसकी भेंट समाधि नामक एक वैश्य से हो गई जिसको उसके स्त्री-पुत्र आदि ने समस्त धन अपहरण करके घर से निकाल दिया था और जो अब वन वासियों के साथ रहकर जीवन-निर्वाह कर रहा था। पर अब भी उसका घर सम्बन्धी मोह छूटा न था और वह घर वालों की हानि-लाभ सुख-दुख की बात सोचते हुए व्यस्त रहा करता था। इन दोनों ने उसी अरण्य में आश्रम बनाकर रहन वाले मेधा ऋषि से अपनी दुर्दशा और मनोव्यथा के विषय में प्रश्न किया। ऋषि ने उनको मोह-जनित भ्रम का रहस्य समझाया और साथ ही देवी की महिमा तथा उपासना की कथा भी सुनाई जिसके द्वारा वे अपनी विपत्ति से छुटकारा पा सकते थे।

देवी का यह उपाख्यान 'दुर्गा सप्तशती' के नाम से प्रसिद्ध है और वह कितने ही स्थानों में थोड़े बहुत अन्तर के साथ कहा गया है। इस महाशक्ति का प्रथम आविर्भाव सृष्टि के आरम्भ होने से भी पूर्व उस समय हुआ जब जगत् कर्ता भगवान् विष्णु सो रहे थे और उनकी नाभि से सृष्टि के रचयिता ब्रह्माजी की उत्पत्ति हुई। उस समय विष्णु के कान के मैल से मधु और कैटभ नाम के दो दैत्य उत्पन्न हुए और वे ब्रह्माजी को मारने को दौड़े। ब्रह्मा उनका सामना करने में असमर्थ थे अतः उन्होंने 'परब्रह्म की आदि शक्ति महामाया की स्तुति की। उससे सन्तुष्ट होकर देवी प्रकट हुई और उसने विष्णु को जगाकर मधु और कैटभ के कुकृत्य का उनको ज्ञान करा दिया। विष्णु इन असुरों से पाँच हजार वर्ष तक बाहु युद्ध करते रहे, पर उनका विनाश न कर सके। तब महा माया ने ही उनको मोहित करके कहलवाया कि हे विष्णु

हम तुम्हारे साथ युद्ध करके सन्तुष्ट हुए हैं, हमसे कोई वर माँगो।' विष्णु ने कहा तुम मेरे वध्य हो, यही वर मैं माँगता हूँ। वचन बद्ध होने से उन्हें वर देना पड़ा और तब विष्णु ने चक्र से उनका मस्तक काट दिया।

✓जब देवलोक का अधिपति इन्द्र को बनाया गया तो महिष नामक असुर ने उनका विरोध किया और अपनी विशाल सेना के द्वारा उनको हराकर देवलोक पर अधिकार करलिया। इन्द्र औरअन्य देवगण ब्रह्माजी को साथ लेकर विष्णु और महादेव की शरण में गये और महिषासुर के अत्याचारों की कथा उनको सुनाई। उसे सुनकर वे बड़े क्रोधित हुए और उनके मुखों से एक महातेज निकला। उसी समय ब्रह्मा, इन्द्र तथा अन्य देवगणों के मुख से भी तेज प्रकट हुआ। समस्त देवताओं के उस तेज ने सम्मिलित होकर एक देवी का रूप धारण कर लिया। सब देवताओ ने उसे अपने सवश्रेष्ठ अलंकार और अस्त्र-शस्त्र-दिये और उसे त्रैलोक्य में अजेय एक महाशक्ति बना दिया इस प्रकार वह देवी जब युद्ध के लिए प्रस्तुत होकर गर्जने लगी तो उस महा शब्द से तीनों लोक काँपने लगे। उसे सुनकर महिषासुर भी अपनी सेना को सजाकर दौड़ा और दोनों पक्षों में घोर सग्राम होने लगा। आरम्भ में महिषासुर केचिक्षुर, चामर उदग्र, महाहनु असिलोमा, वाष्कल और विडालाक्ष सेनापतियों से सामना हुआ ओर एक-एक करके सब मारे गये। फिर दुर्धर और दुर्मुख आदि महिषासुर के महा पराक्रमी सहयोगी रणभूमि में उतरे ५र देवीके सामने वे भी अधिक देर तक न ठहर सके और सेना-सहित मारे गये।

अपनी सेना और साथियों को इस तरह नष्ट होता देखकर महिषासुर अत्यन्त क्रोधित होकर सामने आया और अपने समस्त अद्भुत साधनों से भयंकर सग्राम करने लगा। वह महिष कभी सिंह कभी हाथी का रूप धारण करके लड़ता था। कभी भूमि पर और कभी आकाश में जाकर शस्त्र वर्षा करता था उसके भयंकर संग्राम से तीनों लोक क्षुब्ध हो गये। तब देवी अपने सिंह से उछाल लेकर महिषासुर के ऊपर कूद पड़ी और उसे पैर से दबाकर तलवार से उसका मस्तक काट डाला।

उसका वध होते ही सर्वत्र हर्ष की लहर उठ गई और समस्त देवता देवी की जय जयकार करने लगे। इस अवसर पर देवगणों ने देवी की जो स्तुति की वह बड़ी अर्थ पूर्ण है। उसमें कहा गया है कि देवी ने अपनी शक्ति का समस्त विश्व में विस्तार कर रखा है और ब्रह्मा, विष्णु, महेश भी उसके रहस्य को ज्ञात नहीं कर सकते। वही जगत का कारण अव्याकृता प्रकृति, देवताओं और पितरों की स्वाहा और सुधा तथा मोक्ष-भिलाषियों को मोक्ष प्रदान करने वाली पराविद्या है। देवी ही तीनों वेदों की शब्दमयी मूर्ति सम्पूर्ण जगत की रक्षा करने वाली, समस्त शास्त्रों का रहस्य प्रकट करने वाली सरस्वतीव सागर से उद्धार करने वाली दुर्गा विष्णु के हृदय में निवास करने वाली लक्ष्मी और शिव के सिर पर विराजने वाली गौरी है। उसकी शक्ति और बल अपार है।

तीसरी बार जब शुम्भ और निशुम्भ नामक असुरों ने देवताओं को हराकर भगा दिया तो वे फिर देवी की शरण में पहुँचे। उस समय पार्वती की देह से अम्बिका प्रकट होकर देवताओं की रक्षाके लिए असुरों से युद्ध करने को अग्रसर हुई। उनकी अनुपम सुन्दरता का वर्णन सुनकर पहले शुम्भ ने अपना दूत भेजकर अपना प्रणय सन्देश कहलवाया। पर देवी ने उत्तर दिया कि मैंने यह प्रतिज्ञा की है कि 'जो मुझे युद्ध में जीत सकेगा वही मेरा भर्ता हो सकेगा।' इस पर शुम्भ ने क्रोधित होकर अपने सेनापति धूम्रलोचन को एक बड़ी सेना के साथ देवी को पकड़ कर ले आने का आदेश दिया। इन असुर सेना के साथ देवी का विकट संग्राम हुआ, और अन्त में सब असुर मारे गये। फिर चण्डमुण्ड नामक महा असुर लड़ने को आये पर वे भी कालीद्वारा मार डाले गये, जिससे काली का नाम 'चामुण्डा' पड़ गया।

इसके पश्चात् रक्तबीज नामक रणभूमि में आया। इसमें यह बिशेषता थी कि उसके रक्त की जितनी बूँदे पृथ्वी पर गिरती थीं उतने हीनये असुर और पैदा हो जाते थे और उनका नाशअसम्भव प्रतीत होता थातब देवीने काली से कहा किजब मैं रक्त बीज परअस्त्रसे प्रहार करूँतो

तुम उसके रक्त को पी जाओ, एक भी बूँद को भूमि पर मत गिरने दो। काली ने ऐसा ही किया और तब उस महाअसुर का बध किया जा सका।

रक्त बीज के मारे जाने पर स्वयं शुंभ और निशुंभ सम्पूर्ण सेना सहित रणक्षेत्र में उपस्थित हुए। पहिले निशुम्भ का देवों के साथ घोर संग्राम हुआ और वह मारा गया फिर शुंभ सामने आया और उसने देवी की सहायक सप्त मातृका शक्तियों ब्रह्माणी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी बाराही नारसिंह और ऐन्द्री की ओर संकेत करके कहा— 'तुम दूसरों का आश्रय लेकर युद्ध करती हो और अपने पराक्रमका झूँठ मूँठ अभिमान करती हो' इस पर देवी ने उन सात शक्तियों को अपने अन्दर समेट लिया और कहा कि ये सब मेरी विभिन्न शक्तियाँ है जो मेरी इच्छा से प्रकट होती रहती हैं। अब देख मैं अकेली ही तेरा बध करती हूँ। इसके पश्चात् असुर सेना से देवी का सबसे बड़ा संग्राम हुआ और शुंभ तथा उसके समस्त सहयोगी असुरों को पूर्णतया नष्ट कर दिया गया। इस महान विजय के पश्चात देवताओं ने निर्भय और प्रसन्न होकर देवी की जो स्तुति की उसमें उनको ही सृष्टि का कारण बतलाया है। देवताओं ने कहा—

महामाया ही विपत्ति में पड़े जनों का कष्ट दूर करती है। वही जगत की माता और चराचर विश्व की ईश्वरी है। सम्पूर्ण विद्याएँ और समस्त दैवी शक्तियाँ उन्हीं के रूप हैं। जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और संहार उनकी इच्छा से होता है।'

स्तुति से प्रसन्न होकर देवी ने देवताओं को वरदान देते हुए आश्वासन दिया कि 'पृथ्वी पर जब जब असुरों की उत्पति बढ़ेगी मैं विभिन्न रूपों में अवतीर्ण होकर उनका नाश और तुम्हारी रक्षा करूँगी।'

देवी सप्त शती' का यह उपाख्यान मार्कण्डेय पुराण' का एक महत्वपूर्ण और प्रसिद्ध अंशहै और नवरात्रियों के अवसर पर लाखों भक्त इसका पाठ करते हुए देवी से अपने कल्याण की याचना करते हैं। एक धार्मिक कथा के रूप में निःसन्देह यह रचना बड़ी प्रभावशाली और रोचक

है, पर इसके आध्यात्मिक और आधिदैविक अर्थ इससे भी अधिक शिक्षा-प्रद हैं।

आधिभौतिक रूप में तो इसका स्पष्ट तात्पर्य यही है कि संसार में दैवी शक्तियों के साथ आसुरी शक्तियों का प्रादुर्भाव तथा संघर्ष सदैव होता है। असुर या दुष्ट स्वभाव के व्यक्ति अधिक उग्र, आक्रमण कारी और घूर्त होते हैं और इस कारण प्राय: आरम्भ में देव शक्तियों या सज्जन व्यक्तियों को दबा लेते हैं, उनको पीड़ित करते हैं। पर जब कष्ट मिलने से देवगण सावधान होते हैं, अपनी शक्तियों को एकत्रित और संगठति करते हैं तब वे असुरों का संगठन अहङ्कार, स्वार्थपरता दूसरों के उत्पीड़न की भावना पर आधारित होता है, जब कि देवताओं (सज्जनों में संगठन में) त्याग तपस्या, परोपकार, विश्वकल्याण जैसी उच्च भाव-नायें भी निहित रहती है। इसलिए संघर्ष में असुरगण चाहे जैसी माया, छल बल से काम लें अन्त में उन्हें परास्त होना ही पड़ता है।

आध्यात्मिक दृष्टि से इस कथा का अर्थ मनुष्य के भीतर उत्पन्न होने वाली सद् और असद् वृत्तियों के संघर्ष और मानसिक हलचल से है। भौतिक लाभ और सुखों को प्रधानता देना और उनके लिए अनुचित ढंगों को अपनाना बहुसंख्यक मनुष्यों का स्वभाव होता है। वे इस जीवन का अस्तित्व देह तक ही समझते हैं और उनकी धारणा यही होती है कि हम अपने अन्त:काल तक जो कुछ ऐश्वर्य वैभव प्राप्त कर लेंगे और उसके द्वारा जितना विषय-सुख भोग लेंगे, यह सार है, क्योंकि देहत्याग के बाद कोई निश्चय नहीं कि क्या हो। इस प्रकार के निकृष्ट विचार मनुष्य में स्वार्थपरता के भावों को भड़काते है। जिससे वह अन्य व्यक्तियों की किसी भी प्रकार की हानि पहुँचाने में संकोच नहीं करता।

यह एक प्रकार का तामसी अहंभाव होता है। जिससे मनुष्य के अन्दर के सद्विचार क्षीणहो जातेहैं और वह समाज तथा संसार के लिए भ्रष्टा-चारी तथा ध्वंसकारी शत्रु का रूप ग्रहण कर लेता है। ऐसे तामसी और स्वार्थान्धताके विचारों का नाम ही महिषासुर है जो आत्मा की सद्वृत्तियों

को दबाकर दूषित भावनाओं का राज्य स्थापित कर देता है। इस दूषित अहम्भाव से छुटकरा पाने के लिए मनुष्य को बड़ा प्रयास और तैयारी करनी पड़ती है। उसके लिए समस्त देव-शक्तियों·श्रेष्ठ मनोवृत्तियों को जागृत करके एक लक्ष्य पर एकत्रित करना पड़ता है। तब वह शक्ति रूपा देवी एक-एक करके दुविचारों की सेना का संहार करती है। अन्त में दूषित अहंभाव विभिन्न रूपों में उसके सामने आता है पर सद्‌बिचारों की पैनी तलवार से उसको निर्जीव कर दिया जाता है।

आधिदैविक दृष्टि से देवी सप्तशती' की कथा का आशय सृष्टि के बिकास पर आरम्भिक परिबर्तनों से है। जैसा हमें मालूम है हमारी जानी हुई चराचर सृष्टि का मूल आधार सूर्य है। उसके प्रकाश और उष्णता के कारण ही इन्द्रिय ज्ञान युक्त जीवों की उत्पत्ति और वृद्धि होसकी है। पर सृष्टि के आरम्भ में जब सूर्य का आविर्भाव हुआ तव समय तक तम का आवरण उसके प्रकाश को रोके रहा। जो पदार्थ या शक्ति प्रकाश (देव-भाव) के फैलने में बाधक होतीहै उसे सृष्टि विज्ञान के ज्ञाता ऋषियों ने 'असुर' के नाम से पुकारा है। प्रकाश की तरह प्राण-तत्व या गति भी देव-भाव का सूचक है क्योंकि उसी से प्राणी जगत का विकास और उत्थान होता है। जब तक सूर्य के तेज का परिपाक नहीं होता और उसके द्वारा प्राण-शक्ति कार्यशील नहीं होती तब तक ही तम के आवरण युक्त अवस्था को वृक्ष अथवा महिषसुर का आधिपत्य कहा जाता है। उस समय तक सूर्य या इन्द्र अपने 'राज्य' से वंचित होता है। जब सूर्य की शक्ति का परिपाक हो जाता है और सौर-तेज सर्वत्र व्याप्त होकर सृष्टि-रचना के कार्य को अग्रसर करते हैं तो वहीं वृत्र या महिष का बध हो जाता है। यह कार्य देव-भाव की शक्ति का संग्रह होने से ही होता है इसलिए उसे शक्ति या देवी द्वारा सम्पन्न होना कहा जाना ठीक ही है। यह सृष्टि-विकास और रचना के परिवर्तन करोड़ों वर्षों में होते हैं अतएव 'देवासुर संग्राम' उतने समय तक चलता ही रहता है। यह सब वर्णन वेदोंमें स्थान-स्थान पर पाया जाता है और पुराणकारों ने भी उसे उपाख्यान का रूप देकर अपेक्षाकृत सरल भाषा में लिख दिया है। इस विषय

पर प्रकाश डालते हुए एक विद्वान् ने देवासुर संग्राम का इस प्रकार स्पष्टीकरण किया है—

'देवों के अधिपति पुरन्दर या इन्द्र का आशय सौर-प्राण से है। सूर्य में जागरण भाव ही है सूर्य के भीतर सोना (निद्रा) नहीं है। आसुरी-भाव परिधि पर आक्रमण करते हैं, पर सूर्य मण्डल के भीतर वे प्रवेश नहीं कर पाते। केन्द्र पर देवताओं का ही अधिकार रहता है। असुर केन्द्र तक कभी नही पहुँच सके। इसलिए 'शतपथ ब्राह्मण' में इन्द्र के देवासुर संग्राम को वनावटी कहा—

न त्व युयुत्से कतमच्चानाहर्नं तेऽमित्रौमघवन् कश्चनास्ति।
मायेत्सा ते यानि युद्धान्याहुर्नाद्य शत्रुननु पुरायुयुरसुः॥

अर्थात्—'हे इम्द्र ! तुम कभी लड़े नहीं, न कोई तुम्हारा शत्रु है। तुम्हारे युद्धों का सब वर्णन माया या वनावटी है। न आज तुम्हारा कोई शत्रु है और न पहिले तुमसे लड़ने वाला कोई था।'

वेदों में इन्द्र और वृत्र के युद्धों का विशद वर्णन है। वृत्र के मरने से इन्द्र 'असपत्न' (विना शत्रु के हो गया वही भाषा मार्कण्डेय पुराणमें महिषासुर के लिए प्रयुक्त की गई है-इन्द्रौऽभून्महिषासुरः' (७५-२) महिषासुर ने इन्द्र को स्वर्ग के सिंहासन से पदच्युत कर दिया और स्वयं इन्द्र वन बैठा। पुनः इन्द्र सूर्य मण्डल का अधिष्ठातृ देवतादेव-भाव की वृद्धि से या देवी की सहायता से शक्तिशाली हुए और महिषासुर मारा गया। जो आवरण करने वाला भाव है जो अपने तम से सौर तेज को ढक देता है वही वृत्र या महिष है। सृष्टिकाल के हिसाब से परमेष्ठी को सूर्य-भाव में आने को समय लगा होगा। सूर्य के जन्म से लेकर उनके तेज का पूर्ण परिपाक होने तक महिषासुर ही शक्तिशाली रहा होगा। अन्त में जब इन्द्र पुनः प्रबल हुए तब वही महिष बध हुआ।'

देवासुर संग्राम और देवी के युद्धों की कथायें वास्तव में बड़े सुन्दर रूपक हैं जिनके माध्यम से पुराणकारों ने आध्यात्मिक और अधिवैदिक गहन तत्वों को सर्वसाधारण के लिए वोधगम्य रूप में वर्णन किया है। उनमें तामसिक शक्तिके ऊपर सात्विक शक्ति की विजय का भाव दर्शाया

गया है, जो मनुष्य को सतोगुण का अवलम्बन करने की प्रेरणा देता है उसमें प्रकट होता है कि अन्धधार या तम की शक्तियाँ चाहे कुछ समय के लिए प्रकाश-सत्य की शक्ति को आच्छादित करलें पर अन्त में विजय सत्य-सतोगुण की होती है।

चौदह मन्वन्तर–

मन्वन्तरों का वर्णन और विवेचन पुराणों का एक मुख्य लक्षण माना गया है और मार्कण्डेय पुराण में भी इस सम्बन्ध में अनेक रोचक कथायें दी गई है। उपर्युक्त 'देयी सप्तशती' जिसका सारांश पिछले पृष्ठों में दिया गया है स्वरोचिष मन्वन्तर के कथानक का ही एक अंश है। मन्वन्तरों की संख्या चौदह वतलाई है जिनमें से स्वायम्भुव, स्वारोचिष, औतम, तामस रैवत और चाक्षुष ये छः बीत चुके हैं। सातवाँ वैवस्वत मन्वन्तर वर्तमान समय में चल रहा है। इसके पश्चात सावर्णि, दक्षसावर्णि, व्रह्मसावर्णि, धर्मसावर्णि, रुद्रसावर्णि रौच्य और भौत्य नाम के सात मन्वन्तर और व्यतीत होंगे। ये चौदह मन्वन्तर ब्रह्मा के एक दिन के अन्तर्गत होते हैं जिनका परिमाण मनुष्यों के ४ अरब ३२ करोड़ वर्षों का बतलाया गया है। ब्रह्मा के इस एक दिन अथवा चौदह मन्वन्तरों की सम्मिलित अवधि को एक कल्प' कहा जाता है।

यदि हम मानवीय इतिहास के दृष्टिकोण से विचार करते हैं तो दस बीस हजार वर्ष का इतिहास ही बहुत अस्पष्ट जान पड़ता है जिसका पता लगाने में बहुत कुछ अनुमान और कल्पना से काम लेना पड़ता है। ऐसी दशा में पुराणकारों का चार अरब वर्ष पहिले का इतिहास नाम-धाम सहित लिख देना विचित्र ही जान पड़ता है। इसका कारण यही है कि पुराणकार सृष्टि के निर्माण और प्रलय को एक सामान्य नियम मानकर उसके मुख्य परिवर्तनों (सर्गों) की चर्चा करते हैं। यह ठीक है कि वर्तमान मानव-सभ्यता का इतिहास आठ-दस हजार वर्ष से अधिक का विदित नहीं होता और वह भी अधूरी और कुछ अंशों में अनुमानों पर भी आधारित है, पर इसमें कोई सन्देह नही कि पृथ्वी की सृष्टि और प्रलय होते रहने से ऐसी सभ्यतायें हजारों बार बन और बिगड़ चुकी है और हजारों ही बार बनें और बिगड़ेगी। जब देश और काल अनन्त

और अनादि है और निरन्तर परिवर्तन विश्व का अटल नियम है तब आज की दुनिया और मनुष्य जाति को ही सब कुछ समझ लेना या उसके अ गे पीछे संसार को शून्य ही मान लेना ज्ञान का बहुत सीमित प्रयोग: करना है।

हम जानते हैं कि पुराणों में विभिन्न मन्वतरों के राजाओं ऋषियों और व्यक्तियों की जो कथायें दी गई हैं वह वर्तमात दुनियाँ के स्वरूप और समूह के अनुसार ही लिखी गई है, पर उनमें किसी तरह की हानि नहीं जान पड़ती। इन वर्णनों का मुख्य उद्देश्य पाठकों को सृष्टि की विशालता और अनादि काल से होते चले आने वाले विविध परिवर्तनों का आभास कराना ही है जिससे वह अपनी वास्तविकता का अनुभव कर सकें और अधर्म तथा अनीति से बचकर अपने धर्म कर्त्तव्यों पर आरूढ़ रहे। व्यक्तियों के नाम और उनके कथन तो इस उद्देश्य से लिखे गये हैं जिससे पाठकों को वे स्वाभविक ज न पड़ें और वे उनसे शिक्षा और प्रेरणा प्राप्त कर सकें। हम तो यह भी निश्चय पूर्वक नहीं कह सकते कि प्रत्येक मन्वन्तरों में मनुष्यों का आकार प्रकार और शरीर रचना वर्तमानतरह की ही थी औरवे इसीं प्रकार बोलकर अपना मनो भाव प्रकट करते थे पर इसमें सन्देह नहीं कि पञ्चभूत, प्राणशक्ति और चेतन तत्व मिलकर इसी से मिलती जुलती प्राणियों की रचना और विनाश सदैव करते ही हैं और विविध प्रकार की भली बुरी घटनाओं का होते रहना प्रकृति का एक स्वाभाविक और अनिवार्य नियम है। यदि किसी काल के मनुष्य चार हाथ पैरों से गमन करने वाले हों या उड़कर आते जाते हों तो इससे भी भलाई-बुराई नैतिकता-अनैतिकता, पाप-पुण्य की शिक्षाओं में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

पौराणिक कथाओं का मुख्य उद्देश्यलोगों को सदाचरण की सत्-शिक्षाएँ देना ही है। वर्णनों के नाम गांव, संख्या, कथोपकथनके ज्योंका त्यों होनेपर बहस करना निरर्थकहै। रामायण और महाभारत के नायकों के अथवा बुद्ध ईसा, सिकन्दर, चन्दगुप्त, चाणक्य अशोक आदि ऐतिहासिक व्यक्तियों के जो सम्भाषण उनके जीवन चरित्रों या ऐतिहासिक कथाओं में दिये गयेहैं वहभी उस समय किसी समयशार्ट हैण्ड लेखक ने नहीं लिखे थे पर घटनाओं के सम्पूर्णता और स्वाभाविकता का रूप देने के ख्याल से कथा

लेखक, कविगण या नाटककार उसे ऐसे रूप में लिखते ही हैं मानो वे घटनायें उनकी आँखों के सामने ही हुई हों। पौराणिक कथाओं की रचना भी इसी प्रकार और ऐसे ही शिक्षा देने के उद्देश्य से की गई हैं। हम तो उन लेखकों के व्यापक दृष्टिकोण की प्रशंसा ही करेंगे जिन्होंने मानव मात्र को ही नहीं प्राणी मात्र में एक ही सत्ता को अनुभव करके मनुष्यों के सम्मुख सत्य, न्याय, सहानुभूति, दया, क्षमा के दैवी गुणों के आदर्श ऐसे रूप में उपस्थित किये जो किसी सहृदय व्यक्ति के अन्तःकरण को सहज ही प्रभावित कर सकते हैं।

इस दृष्टि से मार्कण्डेय पुराण का दर्जा बहुत ऊँचा माना जाता है। इसमें मतमतान्तर सम्प्रदायवाद और विशेष स्वार्थों की भावना से ऊपर उठ कर आतमोथान, सच्चरित्रता, परोपकार, दया क्षमा आदि सद्गुणों की ही शिक्षा दी है। इन तथ्यों को साधरण बुद्धि के मनुष्य भी हृदयगम कर सकें इसलिए उपाख्यानों की रोचक शैली का अवलम्बन किया है। इसके 'हरिश्चन्द्र' और 'मदालसा के उपाख्यान धार्मिक-जगत् में अमर बन चुके हैं और दुर्गा' सप्तशती शक्ति सम्प्रदाय ही नहीं हिन्दू मात्र का परायण ग्रन्थ बन चुका है। नरक वर्णन, योग निरूपण सूर्यतत्व विवेचन, पतिव्रत महिमा आदि का इसमें ऐसे प्रभावशाली ढ़ंग से वर्णन किया है कि प्रत्येक पाठक को उससे कुछ न कुछ सद्प्रेरणा अवश्य प्राप्त होती है।सृष्टि रचना जड़ और प्राणी जगत् का क्रम विकास, मानव स्वभाव के दोष और दुरितों का कथन, राजवंशों की कथायें आदि पौराणिक विषयों के वर्णन में भी मार्कण्डेय पुराण ने अतिशयोक्ति से यथा सम्भव बचकर शिक्षा और उपदेश पर अधिक दृष्टि रखी है। इन सब विशेषताओं के कारण सामान्य जनता तथा विद्वानों में भी मार्कण्डेय पुराण का अपेक्षाकृत अधिक मान है और हमारा विश्वास है कि पाठक इसके परायण में पर्याप्त लाभान्वित हो सकते हैं।

मार्कण्डेय पुराण की श्लोक संख्या अन्य पुराणों के विस्तार को देखते हुए पर्याप्त न्यून है। अतः इसमें कोई खास कमी नहीं की गई है। केवल श्राद्ध सम्बन्धी कुछ विषय जो अप्रासङ्गिक जान पड़ता था छोड़ा गया है। अन्यथा आदि से अन्त तक सम्पूर्ण ग्रन्थ ज्यों का त्यों रखा गया है।